(१)

निज पंथ मत आम्नाय का हठ पक्ष होता है जहां।
तत्वार्थ का नहिं बोध होता लेश को भी फिर वहां॥
अंकित हृदय पर अंध-श्रद्धा दूर उसको कीजिये।
जिन-धर्म-चन्द्र विकास के हित ज्ञान मधुरस पीजिये॥

(२)

महिला गणों को धर्म्म पद में उच्च आसन जब मिलें।
जिन धर्म्म की शिव-वाटिका में पुष्प नूतन तब खिलें॥
हों मण्डिता गुरु त्यागिनी अरु शुद्ध तत्व विचारिणी।
निर्लेप पूज्या आर्यका अब मोक्ष मार्ग प्रचारिणी॥

(३)

हो मुक्ति की अधिकारिणी तुम भावना यह धारलो।
अबला समझ कर आपको भव सिन्धु से तुम पार हो॥
गुरु देव का शिव कर संदेशा मानुषी संसार को।
पहुंचाइए यह, भव्य मण्डल प्रगति मार्ग प्रसार हो॥

दो शब्द

जब से 'सत्योदय' का अभ्युदय हुआ है और बाबू सूरजभानुजी की लिखी हुई पुराणों की समीक्षाये प्रकाशित हुई हैं तब: से दिगम्बर जैन समाज में एक अनिवार्य खलबली मच गई है, और अन्ध विश्वास का उलूक निष्पक्ष विचार के प्रकाश से घबराकर इधर उधर छुपने को जगह ढूंढता है। बाबू साहब की लिखी हुई समीक्षायें एवं उनके विचार सर्वथा ही मान्य और ग्राह्य हैं अथवा उनमें कोई दोष त्रुटि है ही नहीं ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकता, परन्तु यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि इस स्वातन्त्र्य विचार के कालचक्र में इन समीक्षाओं और तर्कों की प्रादुर्भूति अबाध्य और अवश्यम्भावी थी जो जैन समाज के एक चिर हितैषी के द्वारा हो ही गई। इस विकासशील संसार में विकासोत्थान के प्रभाव से जब अन्यतत्र अनेक भिन्न २ व्यक्ति-गत विचार वा भाव पैदा हो जाते हैं और लोगों के हृदयों में कालानुगत प्रचलित धार्म्मिक एवं सामाजिक रीतिरिवाज, क्रिया काण्ड, तात्विक सिद्धान्त, निष्पक्ष विचारणा की तुला में ठीक नहीं उतरते, उनमें राग द्वेष का मैल लगा हुआ मालूम होता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवर्त्तन से उनकी अनुपयोगिता प्रतीत होती है, तभी जनता के अन्तःकरण की स्वाभाविक पुकार, गुप्त वा प्रकट, व्यक्त वा अव्यक्त, यही हुआ करती है कि कोई ऐसी शक्ति हो जो अपनी प्राकृतिक ज्वाला से जाति तथा समाज का भय न करके अन्ध-श्रद्धा के कूड़े को भस्म कर दे। लोगों के मन में ज्ञात वा अज्ञात यही इच्छा-ध्वनि प्रबल हो उठती है कि हम खुले तौर से उस निर्भय सगुण-

शक्ति के आधार पर हमारे जीवन को उन्हीं सिद्धान्तों तथा क्रियाओं के अनुसार। बनावें जिन को परिष्कृत बुद्धि हर्ष से मान ले, जिन में भय और दबाव का नाम न हो, अर्थात् हम ऐसे मनुष्य न रहें कि मन तो माने कुछ और करना पड़े कुछ और। आत्माओं की ज़ोर से यही मांग हो जाती है कि प्रत्येक जीवन व्यापार में वे पुराने जीर्ण—शीर्ण भावों को त्यागकर नूतन स्वस्थ भाव-शक्ति का जामा पहिनें. और कोई साहसी अगुआ मार्ग-दर्शक के रूप में प्रगट हो। इन समीक्षाओं और सत्योदय के लेखों से यह प्रत्यक्ष है।

मांगो और लो (Demand and Get) का नियम प्रकृति के बाज़ार में इतने ही बल से कार्य करता है जितना कि हमारे खान-पान वस्त्राच्छादन के बाज़ारों में। बाज़ारों में, जिस तरह ख़रीदारों की ज़रूरत के अनुसार दुकानदार लोग सामान तैयार रखते हैं वैसे ही प्रकृति का दुकानदार व्यक्तियों के बाहुल्य की अन्तःकरणीय सत्य कामनाओं को जैसी देखता है वैसे ही उनकी पूर्त्तिके बाह्य साधन भी उपस्थित कर देता है। हां! यह बात जरूर है कि प्रकृति अपने समय और मौके को ठीक जानती है, वह आप ही ऐसे हृदय तैयार करती है और स्वयं ही उनकी मांग को पूरा कर देती है, मानवों की प्रत्येक जाति और समाज का विकास ऐसे ही हुआ है, होता है और होगा, जैनसमाज उस से वञ्चित नहीं रह सकती। जो बाबू सूरजभानु महासभा का कार्य्य छोड़कर और सामाजिक कार्यों को इस्तीफा देकर अरसे से एक प्रकार की गहरी नींद सी लिये पड़े थे या समाधि में थे वे सहसा बिना बाह्य उत्तेजना के कार्य्य क्षेत्र में ऐसे कूद पड़े कि धड़ाधड़ अन्ध श्रद्धा तथा विचार-शून्यता पर कुठारें मार रहे हैं और उनकी लेखनी से समाज हिल जावेगा, जागेगा और आंखें खोलेगा, यह प्रकृति देवी की उसी अमोघ शक्ति का फल है जो हृदयों की पुकारों को सुनती है और चामत्कारिक रूप में प्रकट होकर लोकका सत्यमय जीवन बनाती है।

वर्षों के वर्ष होगये सैकड़ों हृदयों में अनेक धार्मिक श्रद्धानों, हेतुरहित सिद्धान्तों रूढ़ि प्राप्त क्रियाओं तथा पूर्वजों की कथायों से मलीन खपर—व्यावहारिक भेद-बन्धनों पर निष्पक्ष सन्देह और तर्क उठते थे, वे दबे हुए अपना प्रबल सहायक मांगते थे और फूट पड़ना चाहते थे, इसी को प्रार्थना शक्ति कहते हैं, वह समुचित रूप से गुप्त और परोक्ष सञ्चालनों से प्रकट होगई। अब इसका फल यही होगा कि जैनियों में एक नया दल पैदा होगा और समाज के विकास में जो कुछ कार्य्य उस दल से भावी है वह होकर रहेगा ये समीक्षायें अर्थात् काट छांट की क्रियायें अपना और आवश्यक सामान कब तक एकत्र कर लेंगी, नूतन दल का संङ्गठन कबतक हो जावेगा एवं उन के कृत्यकार्यों का विपाक फल कब समाप्त हो जावेगा, यह भावी का ऐसा प्रश्न है जिस का उत्तर इस समय देना असम्भव सा है। वर्त्तमान में इतना ही कहा जा सकता है कि यह बीज ऐसे फल निकालेगा जिन को खाकर लोग जैनधर्म के सिद्धान्तों की जड़ों को भी खोद २ कर देखेंगे, जांच करेंगे और उनमें नया मसाला मिलावेंगे एवं बहुत सी बातों को अलग भी कर देंगे। यह भी मुमकिन है कि यह दल केवल काट छांट करके ही रह जाय और न्यगति हो जाय। फोड़े को चीर तो देंगे लेकिन मरहम न लगा सके।

इन समीक्षाओं को बाबू सूरजभानु के ही विचार नहीं समझने चाहिये। ये सैकड़ों स्वच्छ निष्पक्ष मनों की आवाजें हैं जिन का मुख सूरजभानु है। यह लेख प्रवाह प्राकृतिक है इस में ख्याति लाभ पूजा का कौतुक नहीं, इसकी गति रुक नहीं सकती। और रुके भी कैसे, साधक तथा बाधक दोनों दलों में प्रकृति ही है, वह अपना इष्ट फल दो पक्षों से ही निकालती है, वास्तव में प्रतिकूल अवरोधन साधन ही होता है, जितना भी अधिक इन समीक्षाओं का विरोध होगा उतना ही इन से फल निकलेगा। यह फल बुरा होगा या भला इस का उत्तरदायी कोई भी नहीं हो सकता। समीक्षक दल

तो केवल यही कह सकता है कि हम इन शास्त्रों और ग्रन्थों को निष्पक्षभाव से पढ़ते हैं, विचार करते हैं और जो कुछ हमको सत्या-सत्य जंचता है वही प्रकट कर देते हैं, यदि कोई हमारी भूल बतावे हम स्वीकार कर लेंगे पर हठ धर्मी छोड़कर ऐसा किया जावे तब बस, हमें तो स्वसंवेदन इतना ही है. कर्म करना हमारा सहज क-र्त्तव्य है और वह 'अपने आप होता है, हम इसी में लोक का हित समझते हैं, ऐसा है कि नहीं वह भविष्यत् में स्वयं प्रकट होगा।

जैनग्रन्थ चार अनुयोगों में विभक्त हैं, प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पौराणिक ग्रन्थ प्रथमानुयोग की कोटि में हैं, परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इन चारों अनुयोगों के ग्रन्थ परस्पर में सम्बन्ध नहीं रखते। यदि प्रथमानुयोग को कल्पित वा केवल काव्यालङ्कार ही सिद्ध कर दिया गया तो इसका असर शेष तीनों अनुयोगों पर अवश्यमेव ही पड़ेगा; कर्म्म फिलासफी का महान् ग्रन्थ 'गोम्मट्टसार' भी इस काँट छाँट से नहीं बचेगा और न 'तत्त्वार्थ सूत्र, ही। अतः ये पौराणिक समीक्षायें शेष तीनों अनुयोगों की समीक्षाओं का द्वार खोल चुकी हैं। समय ने विलक्षण पलटा खाया है, यही समीक्षा चक्र जैन की सर्व आम्नायों तथा पन्थों में घूमेगा और हजारों जीवों को सन्दिग्ध दशा में डाल देगा; जन साधारण की स्थिति डांवाडोल हो जायगी। ऐसी अवस्था बड़ी ही नाजुक और अश्रेयस्कर होती है इसका अधिक काल तक रहना समाज को मारकरोग हो जायगा। इस लिये जैन के किसी भी आम्नाय, पन्थ, सम्मति के पण्डित, साधु, विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है कि खूब जी खोलकर निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ बुद्धि से कार्य्य क्षेत्र में कूद पड़ें, चहुं ओर वाद विवाद और तत्व निर्णय के अखाड़े खड़े कर दें जिस से शीघ्र ही एक निश्चित और निर्णीत रूप प्रगट होजावे, अभेद जैनधर्म का अभिनव सुन्दर मुख दिखलाई दे और श्रीमहावीर के अनेकान्त मार्गानुयायी

प्रगति के पथ पर एक दल में गमन करते हुए संसार से मुक्त हों। समोक्षक और समीक्षकेतर दोनों ही पक्षों को विलम्ब न करके सर्व-प्रकार के विचार, मत और आदर्श-भाव खुले मैदान ले आने चाहिये, उनका निर्णय करना चाहिये, अन्यथा कुछ ही वर्षों में जैनत्व का वाह्य सत्व लुप्त हो जायगा और शुद्ध जैनतत्वज्ञान किसी और ही नाम से लोक में विख्यात होगा; जैन समाज और जैनधर्म केवल ऐतिहासिक शब्द रह जायगे।

इस लेखका लेखक भी कर्त्तव्य वश दिगम्बर जैन समाजका ध्यान उन विषयों में से एक मुख्य विषय की ओर आकर्षित करता है जो व्यर्थ ही शताब्दियों से जैनसङ्घ की शक्ति को तोड़ रहे हैं और श्वेताम्बर दिगम्बर इन दो आम्नाओं के पार्थक्य के अप्रयोजनभूत मूल कारण हैं। श्वेताम्बराम्नायी स्त्री का मोक्ष होना मानते हैं और दिगम्बरीय इसका निषेध करते हैं। इसी से परस्पर दोनों में ऐसा भेद-विचार होगया है कि एक दूसरे को जैनी ही नहीं समझते प्रत्युत मिथ्यात्वी कहते हैं, एक आम्नाय वाला इतर आम्नायी की अपेक्षा अन्य धर्म्मी को अच्छा समझता है। प्रायः दोनों ही आम्नायों के विद्वान् साधु और नेता यह ही कहा करते हैं कि जब हमारे धर्म्म और श्रद्धान में ही गहरा भेद होगया तो फिर हम आपस में संयुक्त हो ही कैसे सकते हैं। भगवान के वचनों के प्रतिकूल श्रद्धा रक्खें और फिर भी अपने को जैनी कहें ऐसों से तो हमारा ऐक्य कदापि नहीं होगा; उन से तो अन्य धर्म्मी ही भले जो जैनधर्म का स्वरूप तो नहीं बदलते। इत्यादि बातें दोनों आम्नाय वालों के हृदयों में जमी हुई बैठी हैं और परम्परागत अन्ध विश्वास से कोई भी इसका विचार नहीं करता कि श्रीमहावीर स्वामी के समय में तथा जब तक केवली श्रुतकेवली होते रहे तबतक तो जैनों में ऐसे भेदोत्पादक मत होंहीगे नहीं फिर ऐसी क्या बात है जो पीछे से पैदा होगई और इतनी खिंच गई कि उसकी गुत्थी सुलझ ही नहीं सकती। परन्तु विचार

करें तो कैसे, जैनसमाज में एक अरसे से विचार—स्वातन्त्र्य गहरा दबोच दिया गया है। इधर दिगम्बरों के पण्डितों ने और उधर श्वेताम्बरों के साधुओं ने अपने २ अनुयायी एवं भक्तों को ऐसे २ भय दे रक्खे हैं कि इन विषयों की चर्चा करने अथवा इनकी निष्पक्ष आलोचना करने का किसी को साहस ही नहीं होता, यदि कोई करे तो सङ्घच्युत वा तिरस्कार का दण्ड पाता है। इन पण्डित महात्माओं और साधु महाराजों ने ऐसा चक्र फेर रक्खा है कि उठते हुए नौजवानों की निर्मल विचार शक्ति को विकसित ही नहीं होने देते। अधिकतर श्वेताम्बर साधुओं का तो समाज पर ऐसा असीम प्रभाव है कि मूर्ख से मूर्ख भेषधारी साधु भी सैकड़ों शिक्षित गृहस्थों को मूक भेड़ों की तरह हांकता है, और उनमें ऊहापोह के भाव ही उत्पन्न नहीं होने देता। तदुपरान्त ऐसा भी कहकर टाल दिया जाता है कि ये ऐसी बातें हैं जिनका निर्णय अब इस पञ्चमकाल में तो होना ही नहीं, बड़े २ आचार्य्य ही इनका फैसला नहीं कर सके तो हमारी क्या चलाई, जैसे अपने बड़े कहते आये और मानते आये वैसे ही मानो इस तरह जैनों के विद्वान् वा पूजाधिकारी वर्ग समाज को अपनी मुट्ठी में दबी हुई रखकर स्वतन्त्र विचार और शुद्ध तर्क-शक्ति का गला घोंटते हुए चले आरहे हैं। आखिर ये भेद और पञ्चमत पञ्चमकाल ही में तो उठे, आचार्यों ने कषायवश वा भूल से अथवा समय की आवश्यकता से ऐसे भेद डाले हों इस का जबान पर लाना तो कहाँ, स्वप्न में भी ख्याल करने वाला नरक गति का पात्र बता दिया जाता है। हम पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने दिलों में से इस बात को बिल्कुल दूर कर दें कि जो २ विषय जैनों में आम्नाय-भेद के कारण होरहे हैं और हमारे सम्प में बाधा डाल रहे हैं उनके निर्णय करने के हम योग्य ही नहीं अथवा उनका निर्णय अब होही नहीं सकता। यदि पण्डितों और साधुओं की इक-

ढङ्गी से निकलकर हम दोनों आम्नायों के भेद-कारणों पर परिष्कृति बुद्धि और हित कामना से विचार करेंगे, एवं निर्भय होकर विचार परिणाम को समाज के सामने रखते रहेंगे तो शताब्दियों का द्वेष-भाव धुल जावेगा, लाखों जीव वंशानुबन्धी आम्नाय-कषाय से मुक्त हो जावेंगे और महावीर के उपासकों में न कोई आम्नाय का हट ही रहेगा न पन्थ का पक्ष ही। शनैः २ समस्त जैन बन्धु सहिष्णु और भेद विचार रहित हो जायगे जिससे परस्पर में सम्प तथा प्रीति के सूत्र से बद्ध होकर लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों ही प्रकार के कार्यों को उन्नत शैली से सफलता पूर्वक सम्पादन कर सकेंगे।

पाठकों को इस बात का भी खयाल रहे कि इस विवेचन और तत्व निर्णय के कार्य्य में हमको आधुनिक विज्ञान, इतिहास एवं अन्य धर्म्मों के तात्विक सिद्धान्तों से तुलनात्मक सहायता जरूर लेनी होगी, और इसमें यह भी सम्भव है कि जैनधर्म की कई आज्ञा-सिद्ध तथा तद्वचनमान्य बातें शुद्ध तर्क और विज्ञान की प्रत्यक्ष कसौटी पर फीकी मालूम हों, कुछ का कुछ रंग दिखलाई दें जिससे दोनों ही आम्नाय वालों की अनुकूलता न रहे। सत्यान्वेषण में ऐसा हुए विना रह नहीं सकता; हमको श्रीहेमचन्द्राचार्य्य के इन वचनों को सदैव आंखों के सामने रखना चाहिये "पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रहः॥ अर्थात् हमको न तो महावीर का पक्ष है न कपिलादि दार्शनिकों से द्वेष है, जिसका भी वचन युक्ति सहित प्रतीत होता है वही ग्रहण करने योग्य है।

अस्तु, अब हम अपने निर्दिष्ट विषय को लेते हैं। आधुनिक दुनियां के प्रचलित धर्म्मों में जैनधर्म्म का ही यह विशेष दावा है कि यह धर्म्म जीवमात्र को अपने कर्म्मों का कर्त्ता और फलों का भोक्ता स्वतन्त्र मानता है। जैनधर्मानुसार हरएक जीव अपने पुरुषार्थ

से मोक्ष-प्राप्त कर सकता है, इसमें किसी अन्य विशेष सत्ता जैसे परमेश्वर, अथवा अवतार पैगम्बर की प्रसन्नता और सिफारिश की जरूरत नहीं। अपने सुख दुख और मुक्ति में यह जीवात्मा स्वयं ही साधक बाधक है। जीव अपने परिणामों के अनुसार कर्म्मों को बांधता है और परिणामों से ही संवर निर्जरा करके मुक्त होजाता है। इन परिणामों की विचित्रता ऐसी बताई है कि नित्य निगोदिया जीव जो कभी संसार राशि में नहीं आया वह तो नित्य निगोद से ही निकलकर मनुष्य भव धारण करता है और सम्यक्त्व प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त्त में ही केवलज्ञानी होजाता है; और मुनि ग्यारहवें गुणस्थान पर चढ़कर भी ऐसे गिरते हैं कि किञ्चित् ऊन अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तनकाल (इसका अनुमान प्रचलित लौकिक गणित शास्त्रसे नहीं हो सकता) तक जन्म मरण करते ही रहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अन्य धर्म्मों से जैनधर्म्म में यदि विशेषता है तो केवल यही है कि जैनधर्म्म प्रत्येक जीव को मोक्ष-प्राप्ति में समान अधिकारी समझता है, और जीव के परिणाम ही बन्ध मोक्ष के कारण हैं, अन्य कुछ नहीं, यही इसका क्रियात्मक सिद्धान्त है। मोक्ष-सिद्धि के अर्थ जैनधर्म्म में स्वतन्त्र उद्योग का स्वत्व सबको प्राप्त है; मनुष्यों की कौन कहे पशुओं के उत्थान में भी यह धर्म्म पूर्ण सहायक और दयामय रक्षक एवं साधक है। यह धर्म्म आबाल वृद्ध किसी को भी अपनी इष्ट सिद्धि में हतोत्साह नहीं करता। धर्म्म के मूलसिद्धान्त को देखते हुये यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि पुरुष और स्त्रियोंमें मनुष्यत्व के गुण समान होते हुए भी जैनधर्म्मियों का एक समुदाय स्त्री को मोक्ष-प्राप्ति से वञ्चित् क्यों समझता है, स्त्रियों को मोक्ष के अयोग्य बताकर उनकी पर्याय की क्यों अवहेलना करता है और मानव समाज के एक अर्द्ध-भाग को निराशा के कूप में क्यों डालता है, स्त्रियां मोक्ष के अयोग्य हैं, त्रिया की पर्याय ही महानिन्द्य है, इत्यादि वाक्यों को सदैव सुनते

रहने से और इन्हीं के अनुसार व्यवहार परिस्थिति से जैननारियों की आत्माएं अपने को निन्द्य और अधम ही समझने लगी हैं, उन में उच्च-भावों की उद्भूति का बीज ही नहीं रहा जिससे भवान्तरों में भी वे अपना उद्धार नहीं कर सकतीं। इससे तो जैनधर्म्म जीवोद्धारक होने की जगह जीवों को पातकी बनाता है, क्योंकि अपने को निन्द्य, नीच, अधम समझने से और " मनुष्य जीवन के अन्तिम ध्येय मोक्ष-प्राप्ति के अयोग्य हूं " ऐसा अन्तःकरण में अङ्कित होजाने से 'विचार परिणाम' (As you think so you will be) की धारा आत्मा के प्रदेश २ में वही स्फुर्णा निरन्तर उत्पन्न करती है। यही भाव-बन्ध कुगति और अप्रशस्त प्रकृतियों के कर्मबन्ध का कारण होता है; इस सूरत में जैन धर्म्म में स्त्रियों को नजात के लिये ठौर कहां रही। इससे तों गीता के भगवान अच्छे जो ब्राह्मणों को महापुण्याधिकारी उच्चतम बतलाते हुए भी सबको मोक्ष प्रदान करने का समान वचन देते हैं और कहते हैं कि 'मेरी शरण में आजाओ, सबको परागति दूंगा' मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ जैसे अनन्त पुरुषों ने अपने परिणामों की उज्ज्वलता से मोह को क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया वैसे ही अनादिकाल से अनन्त स्त्रियों में एक भी ऐसी न हुई जिसने महाव्रत भी ग्रहण किया हो इसकी वजह क्या? जब हम हमारे लौकिक कार्यों की ओर दृष्टि डालते हैं तो विदित होता है कि स्त्रियां क्या बुद्धि में और क्या साहस और धैर्य्य में पुरुषों से कम नहीं होतीं: वे युद्ध में निपुण होती हैं; इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त और प्रमाण मौजूद हैं, कोई इनकार नहीं कर सकता। तब यह एक पक्षपात बिना सङ्कोच के कैसे मान लिया जावे कि श्रीजिनेन्द्र की यही आज्ञा है कि स्त्रियों में महाव्रत की योग्यता ही नहीं और मोक्ष तो पुरुषों ही के लिये हैं, स्त्री के लिये नहीं। आखिर इसकी

गवेषणा तो होनी चाहिये कि मोक्ष के लिये ऐसी कौन सी विशेषता की ज़रूरत है जो पुरुषों में है और स्त्रियों में नहीं। जैनधर्म में आगम का यही लक्षण है कि वह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से अबाधित हो "आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्। तत्वोपदेश कृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं॥" यदि मोक्ष सिद्धि के लिये दोनों में समान गुण सिद्ध हों तो 'स्त्री अपनी तद्भव पर्याय से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकती' ये वचन सर्वज्ञ के नहीं हो सकते। इत्यादि सन्देह और तर्क हरएक विचार-शील हृदय में उठने चाहिये, ऐसे ही जिज्ञासुओं के लिये हम उन हेतुओं की क्रमशः आलोचना करते हैं जो दिगम्बराम्नाय में स्त्री को केवलज्ञान होने के विरुद्ध दिये जाते हैं।

(१)

प्रथम हेतु यह बताया जाता है कि जैनधर्म में जो गुण स्थानों का क्रम है वह तीर्थंकर और केवलियों ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव एवं ज्ञान से प्रगट किया था; उसके मुताबिक सयोग केवली का तेरहवां गुण स्थान उसी मनुष्य को प्राप्त होता है जो वज्रऋषभ नाराच संहनन का धारी हो अन्य संहनन वाले उस स्थान तक नही चढ़ सकते। स्त्री के इस संहनन उदय का निषेध किया है, इस कारण स्त्री उच्चगुण स्थानों पर चढ़ ही नहीं सकती।

यहाँ पाठकों को यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि गुण स्थानों के लक्षण और उनमें कर्म्म-प्रकृतियों के उदय, बन्ध, सत्वादि में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नायों में मतभेद नहीं है। केवली के वज्र ऋषभ नाराच संहनन का होना दोनों पक्षों को स्वीकार है। कर्म्म-भूमि की स्त्रियों के प्रथम के तीन संहनन नहीं होते जिनमें वज्र वृषभ नाराच पहिला और प्रशस्ततम है यह कथन गुण स्थानों के बन्धोदय उदीर्णादि से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता; वहां तो केवल १३वें गुण-स्थान की उदय-प्रकृतियों में

संहननों में वज्रऋषभ नाराच की गणना है और शेष पांच का उदय १२वें गुण-स्थान के पहिले २ ही होना बताया है। स्त्री के तीन ही नीचे के संहनन होते हैं शेष नहीं हो सकते यह नियम १४ मार्गणाओं के बन्धोदय से सम्बन्ध रखता है (१) और श्वेताम्बराम्नायी इस निषेध को दिगम्बरियों की कल्पना एवं गणधरों के रचे हुए सूत्र-वचनों के विरुद्ध बताते हैं।

[आलोचना]

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में जो २ उपदेश तथा पदार्थों का स्वरूप प्रकट हुआ वह यथार्थ बिना फेरफार के ज्यों का त्यों किस अाम्नाय में अब तक मौजूद है और ऐसा होना सम्भव भी है क्या, यह तो एक विषय ही अलग है। इसीका निर्णय होजाय तो झगड़ा ही किस बात का रहे, फिर तो आगम प्रमाण साफ़ ही है। परन्तु जहां उभय पक्ष का मतैक्य है, उन्हीं तात्विक प्रमाणों से हमारे प्रकृत विषय का निर्णय हमको जहां तक होसके पहिले करना चहिये; तत्पश्चात् आम्नाय ग्रन्थ-प्रमाण पर विचार करना उचित होगा। इससे पाठक बहुत आसानी से नतीजा निकाल सकेंगे।

जैनधर्म्मानुसार इस भारत-क्षेत्र में पहिले, दूसरे और तीसरे काल (आरे) में भोग-भूमि की रचना थी, उसके पीछे कर्म-भूमि के स्त्री पुरुषों को आयु-काय कर्म्म-भूमि के स्त्री पुरुषों से बे हिसाब बढ़ी चढ़ी हुई थी और उन भोग-भूमियों में भी जो आयु-काय पहिले आरे में थी वह दूसरे में नहीं रही और जो दूसरे में थी वह तीसरे में नहीं, शनैः २ उसका ह्रास होगया, यहां तक कि तीसरे कालके अन्त में जब से कि कर्म्म-भूमि का मार्ग चला, मनुष्यों की आयु-काय पल्योपम और कोसों से पूर्वों और धनुषों

* फुट नोट॥[१] इसकी चर्चा आगे दूसरे हेतु की आलोचना में है।

पर उतर आई। इसी तरह चतुर्थकाल के आदि मे जो आयु काय थी वह उसके अन्त तक न रही, घटती ही गई। और अब आगे छटे काल में तो ३ बालिश्तों ही की काय के मनुष्य होंगे जिनकी आयु भी ३ ही वर्ष की होगी। जैनग्रन्थों में कहा गया है कि यह अवसर्पिणी कालचक्र है अर्थात् इस में सर्प की गति की तरह सब श्रेष्ठ और उत्तम बातों का ह्रास होगा, इसके पीछे उत्सर्पिणी चक्र में ऐसे ही वृद्धि भी सर्प-गति से होगी।

मनुज सृष्टि की भूत तथा भावी स्थिति जैनग्रन्थों के अनुसार ही हुआ करती है इस प्रश्न का विचार इस लेख में नहीं है; यहां तो सिर्फ इस उपरोक्त काल चक्र के वर्णन से यही नतीजा प्रयोजन-भूत है कि जैन धर्म्मानुसार प्राणियों के आयु काय प्रमाण में वृद्धि और ह्रास एक साथ नहीं होते किन्तु शनैः २ क्रम से पतनोत्थानपूर्वक सर्प की चाल की तरह होते हैं अर्थात् ह्रास गति चक्रमें निरन्तर ह्रास ही ह्रास होता जाय अथवा वृद्धि-गति में वृद्धि हो ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिये कि ह्रास-गति के कालचक्र के किसी भी दो भाग में १००० वर्ष का अन्तर है और पूर्वभाग के आदि में आयु-प्रमाण उत्कृष्ट ५०० वर्ष हैं, एवं इस पूर्व भाग के अन्त में अथवा उत्तर भाग के आदि में उत्कृष्ट ३०० भावी हैं तो इस एक हज़ार वर्ष के अन्तर में ५०० और ३०० की आयु-स्थिति के बीच में हानि-वृद्धि (उतार-चढ़ाव) होते हुये ३०० पर प्रमाण आकर ठहरेगा अन्यथा नहीं। पहिले उत्कृष्ट ५०० से ४६० पर उतरेगा, फिर ४६० से वृद्धि होगी और वह ४६६ तक ही जायगी ५०० तक नहीं, तत्पश्चात् ४६६ से ह्रास प्रारम्भ होकर ४८६ पर आवेगा ४६० पर नहीं; इस प्रकार १००० वर्ष के जितने भी ख्याल में आवें उतने खण्ड कर लीजिये और उनपर ५०० वर्ष आयु प्रमाण की हानि से वृद्धि और वृद्धी से हानि किसी भी कल्पित प्रमाण से करते जाइये तब १००० वर्ष के अधस्तन ही अधस्तन

(नीचे ही नीचे) के खण्ड में ३०० वर्ष की उत्कृष्ट आयु प्रमाण के मनुष्यों का जन्म होगा। इसी तरह की कल्पना से काय की लम्बाई चौड़ाई, संहनन आदि के ह्रास का अनुमान कर लेना चाहिये।

वृद्धि और ह्रास की इस तरह गति को समझ लेने के बाद हमको यह देखना चाहिये कि भोग-भूमि में स्त्रियों के कितने संहनन होते थे और ऊपर के तीन स्त्री पर्याय में कर्म्म भूमि की आदि में ही एक साथ कैसे अभाव होगया। दिगम्बर आम्नाय वालों को यह तो बिना सङ्कोच के मान्य ही है कि भोग-भूमि के अन्त तक स्त्री और पुरुषों के केवल वज्रवृषभ नाराच संहनन ही होता था, शेष पांच का उदय भोग-भूमि में नहीं होता; भोग-भूमि के नर और नारी उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृतियों ही के धारी होते हैं। जब ऐसा है और भोग-भूमि के अन्त तक वज्रवृषभ नाराच संहनन स्त्रियों में बराबर बना रहा, यहां तक कि एक भी स्त्री वज्रनाराच, नाराच आदि संहनन की नहीं थी तो फिर ह्रास-वृद्धि के सर्वमान्य उल्लिखित क्रम के विरुद्ध सहसा तीनों संहननों का अभाव कैसे सम्भव हुआ। क्रमानुसार तो पहिले वज्रवृषभ नाराच का अभाव होता तब अवश्य वज्रनाराच की उत्पत्ति होती, तत्पश्चात् उसकी क्षीण हीनता पर नाराच की। परन्तु यहाँ तो यह माना जाता है कि एक साथ ही तीनों का अभाव होगया और कर्म्म-भूमि में कोई भी स्त्री वज्रवृषभ नाराच तो कहां वज्रनाराच और नाराच संहनन तक की भी न हुई, न होगी। पाठक विचार करें कि यह स्वयंप्रतिकूलता नहीं है तो क्या है। और कर्म्म-भूमि में स्त्री के उक्त संहननों का अभाव बताना लोक विकास के एक महान् प्रत्यक्ष सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रतिपादन करना है कि नहीं; क्या सर्वज्ञ केवली के वचनों में ऐसा पूर्वापर विरोध हो सकता है? जैनतत्व-ज्ञान का गुरुतत्व ही इस में है कि इसकी प्रत्येक बात पूर्वा पर विरोध

रहित युक्ति-सिद्ध हो और किसी भी प्रमाण से अकाट्य हो; वही सर्वज्ञ केवली का वचन होगा। आजकल भू-तत्वज्ञान, खगोल विद्या आदि के सिद्धान्त भी ये ही हैं कि विश्वलोक की विकास-गति ऐसे क्रम से हुई है जिसका परिमाण गणितशास्त्र से किया जा सकता है। जैनधर्म्म की सर्प-गति और षड्गुणी हानि-वृद्धि का नियम इन भूत-त्व ज्ञानियों से अक्षरशः मिलता है। यदि आयु: काय संहनन आदि का घटाव बढ़ाव, भावाभाव अक्रम होता तो काल विभाग के पूर्व अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी शब्द ही क्यों जोड़े जाते।

इससे तो साफ यही नतीजा निकलता है कि जैनधर्म्म सर्व-मान्य कालगति के षड्गुणी हानि-वृद्धि क्रम के अनुसार भोग-भूमिके अन्त तक स्त्रियां आद्रिम ही संहननकी होती थीं और फिर कर्म्म-भूमि में भी रही। क्योंकि, इसका कोई कारण ही नहीं मालूम होता कि पुरुषों में तो भोग-भूमि के विघटन के बाद कर्म्म-भूमि में भी उत्तमोत्तम संहनन चौथेकाल के अन्त तक अविच्छेद रहे और स्त्रियों में उसी का अभाव नहीं किन्तु दो और अधस्तनों का भी विच्छेद होजाय। यदि यह कहा जाय कि स्त्रियों की संहनन क्ति पुरुषों के बराबर नहीं हो सकती, तो फिर भोग-भूमियों ही में समानता क्यों हुई? वहाँ भी स्त्रियों के उत्तम संहनन नहीं होना चाहिये था, इतर उपरितन के दो वा अधस्तन तीन होते।

परमाणु-वाद से भी स्त्री पर्याय में एक साथ ऊपर के तीन संहननों के सर्वथा विच्छेद होने की पुष्टि नहीं होती। कर्म्म-भूमि के मनुष्य भोग-भूमियों से ही उत्पन्न हुए हैं; जो कुछ परिवर्त्तन नो-कर्म्म वर्गणाओं (पुद्गल परमाणुओं का वह समूह जिससे शरीर रचना होती है) का हुआ होगा वह पुरुष और स्त्री दोनों

ही में हुआ, एक में नहीं। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि संहननों के लिये तो पुद्गल वर्गणाओं में इतना परिवर्त्तन होजाय कि युगपत तीन का लोप, परन्तु आयु काय के परिमाण में उस परिवर्त्तन से कुछ भी न्यूनता न आवे, यह बात साधारण बुद्धि में भी खटके बिना रह नहीं सकती। सैकड़ों स्त्रियां पुरुषों के समान उत्कृष्ट आयु और काय परिमाण प्राप्त करती हैं, संहननों के अभाव की तरह इन में भी हानि होनी चाहिये थी और शास्त्रों में इस का उल्लेख होना चाहिये था कि कर्म्म—भूमि की स्त्रियां पुरुषों के बराबर आयु—काय भी नहीं प्राप्त करेंगीं। शास्त्रों में न कहीं इसका ज़िक्र है, और न देहधारियों में इसका नियमरूप अस्तित्व। अतः परमाणु वाद इस उत्तम संहननाभाव के हेतु का कुछ भी मण्डन नहीं कर सकता।

भोग—भूमि में स्त्रियाँ पुरुषों के समान क्यों हुईं उस समय भी भेद होना चाहिये था, यदि इस खयाल को थोड़ी देर के लिये छोड़कर यह मान भी लें कि कर्म्म—भूमि में स्त्रियों का संहनन पुरुषों से हीन ही होता है तो भी तीन संहनन का अभाव बन नहीं सकता। वज्रनाराच और नाराच दोनों होते हुए भी वज्रर्षभनाराच वाले पुरुषों से स्त्रियां बल में हीन ही रहेंगी। इस की कौनसी वजह है कि इन दो का भी विच्छेद होजाय। तदुपरान्त जिनके मत में यह जंची हुई है कि स्त्रियां तो पुरुषों के बराबर संहननशक्ति की धारका हो ही नहीं सकती, वे स्त्रियों के केवल तीन संहनन मान-कर भी अपने मतको सिद्ध नहीं कर सकते। व्यक्ति—गत विचारेंगे तो हज़ारों पुरुष छठे संहनन के होंगे, बीसियों चौथे के होंगे, यहां तक कि प्रथम प्रशस्त संहनन वाले तो इनेगिने ही होंगे, कारण कि महान् पुण्यवानों ही के उसका उदय था। जन साधारण तो उतने पुण्याधिकारी हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार स्त्रियों में भी अभि-मत अर्द्धनाराच, कीलक और सृपाटिक तीनों में अल्प बहुत्व मान-

ना पड़ेगा, और इसके साथ यह भी लाजिमी तौर से स्वीकार करना होगा कि जो स्त्रियां अर्द्धनाराच संहनन वाली होंगी वे कीलकी और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन वाले पुरुषों से संहननशक्ति में बढ़ी हुई थीं और हजारों पुरुष उन से हीनबली थे। तदुपरान्त कर्म्म-भूमि में तीन काल होते हैं ४ या. ५ वां और छठा। परन्तु पांचवें और छठे काल में तो ऊपर के तीन संहननों का विच्छेद पुरुषों के भी माना है, यहाँ तो स्त्री पुरुष दोनों ही बराबर हैं। तब, स्त्रियाँ पुरुषों से हीन संहनन वाली ही होंगी, ऐसे मत को तो कहीं भी ठहरने की जगह न रही, यह कथन तो केवल भ्रममात्र ही रह गया और किसी बुद्धिमान् पुरुष के ग्राह्य नहीं हो सकता।

इस से तो साफ़ है कि कर्म्म-भूमि में स्त्री के उच्च तीन संहननों का अभाव बताना किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता और जैन धर्म्म में जो हानि—वृद्धि का नियामक तात्विक सिद्धान्त है, उस से इस का मेल नहीं होता। यह हेतु अनेकान्तात्मक नहीं किन्तु एकान्तमय है और वीतराग सर्वज्ञ—प्रणीत नहीं किन्तु छद्मस्थ कथन प्रतीत होता है।

अब हम आम्नाय ग्रन्थ—प्रमाण पर विचार करते हैं १४ गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा, कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृति एवं उन के बन्धोदय सत्त्व इत्यादि का सविस्तर वर्णन करणानुयोग के शास्त्रों में है। वर्त्तमान में दिगम्बराम्नाय में 'गोम्मटसार' ही इस विषय का उपलब्ध है, जो नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती का रचा हुआ है। उसी की दो तीन टीका टिप्पणियां तो अन्य विद्वानों ने लिखी हैं परन्तु उपर्युक्त विषयों पर किसी और आचार्य्य वा विद्वान् का लिखा हुआ स्वतन्त्रग्रन्थ अभी तक प्रगट नहीं हुआ। पाठकों को यह प्रगट ही है कि जीव और कर्म्म का विषय न तो कोई कथा ही है न जीवन चरित्र ही, इस में काव्यालङ्कार को ज़रा भी जगह नहीं। जैनधर्म्म की यह कर्म्म फिलासफी है, जैन के तीर्थङ्करों

ने लोक के ज्ञानविकास में स्वानुभव प्राप्त इस सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को प्रगट करके मानव समाज का जो अनन्य कल्याण किया उस का प्रमाण इसी जीव और कर्म विषयक करणानुयोग कथन से मिलता है। प्रथमानुयोग के ग्रन्थ जैसे पद्मपुराण महापुराण आदि में रात दिन का फ़र्क़ है एवं असम्बद्ध बातों से भरे हुए हैं वह बात यहां नहीं है। यह शृङ्खलाबद्ध सात्विक विषय है जिस में कोई भी बात बेजोड़ और बिना सिर पेर के नहीं हो सकती। हर एक बात के हेतु और सम्बन्ध मिलते हुए जायंगे। तो भी इसमें छद्मस्थों की छाप न लगी हो अथवा अन्य मतावलम्बियों के प्रभाव और संसर्ग तथा प्रचलित ज्ञान विज्ञान का असर बिल्कुल ही न आया हो, ऐसा सर्वथा नहीं है। इस में आचार्यों का मतभेद कई बातों में होता रहा है। अतः इस मतभेद और मेल मिलाव का ऐतिहासिक पता लगाना कारणानुयोग में बहुत ही कठिन है, क्योंकि जितना बारीक और सूक्ष्म—बद्ध यह विषय है उतनी ही बारीकी से इस में पर संस्कार और ज्ञान तथा स्वेष्टमत का मिश्रण हुआ है एवं उस का सम्बन्ध मिलाया गया है। यह कठिनता ऐसी अवस्था में और भी अधिक बढ़जाती है जबकि इस विषय का एक ही आचार्य का रचा हुआ ग्रन्थ प्राप्त हो और उसके पहिले वा पीछे किसी अन्य का लिखा हुआ तद्विषयक कोई भी ग्रन्थ न मिले। यद्यपि खूब मनन करने से इस का तो अनुभव रूप निश्चय हो जायगा कि अमुक २ बातें अन्य मतावलम्बियों से समाविष्ट हुईं, अथवा प्रभावशाली आचार्यों ने स्व-कषाय वश निजमत ही का पोषण किया अन्याचार्यों के मत को गौणत्व में रख दिया, तथा दो मत भेदों में बहु-मान्य और अल्पसंख्यामान्य कौनसा था, तथापि यह निर्णय होना तो दुःसाध्य है कि ऐसा कब हुआ, उसके पूर्व में क्या तत्त्वज्ञान था और यह मिश्रण वा भेद कैसे हुआ। आम्नाय-भेद की बातों को निकाल दें

तो भी करणनुयोग में कई बातें ऐसी हैं जिनका मेल कर्म्म-तत्व ज्ञान से नहीं मिलता।

अस्तु, जो कुछ भी सामग्री प्राप्त है उसी पर विचार करना होगा।

कर्म्म-भूमि की स्त्रियों के अन्त के तीन ही संहनन होते हैं ऐसा सार्व कालिक निरपवाद नियम दिगम्बराम्नाय के गोम्मटसार ग्रन्थ कर्म्म-काण्ड में है, उसकी गाथा यह है:—

अन्तिम तिय संहडणस्सुद ओपुण कम्म भूमि महिलाणं।
आदिम तिग संहडणं णत्थित्ति जिणेंहि णिद्दिट्ठं॥
अन्तिम त्रय संहननस्योदयः पुनः कर्म्म-भूमि महिलानाम्।
आदिमत्रिक संहनन नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम्॥ (कर्म्मकाण्ड १ अ० ३२)

अर्थ—अन्तिम तीन संहननों का उदय कर्म्म-भूमि की स्त्रियों के होता है और आदि के तीन नहीं हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

यह गाथा जहांतक भी इसका पूर्वापरसे सम्बन्ध मिलाया तो असम्बद्ध और क्षेपक मालूम होती है। कर्म्म काण्ड में पहिला अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' नामक है जिसमें कुल ८६ गाथा हैं। इस अध्याय में बड़ी भारी त्रुटि पाठकों को स्पष्ट यह मालूम पड़ेगी कि कर्म्म की ८ मूल प्रकृतियों के तो नाम, लक्षण और कार्यों का वर्णन है परन्तु उत्तर प्रकृतियों के न तो कहीं नाम हैं और न उनके लक्षण और कार्य्य का वर्णन है। २१ गाथा तक आठ मूल प्रकृतियों का उदाहरण सहित स्वरूप, उनके क्रम का कारण, उनमें घातिया अघातिया भेद कहे गये हैं। २२ वीं गाथा में "पञ्च णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी। ते उत्तरं सय वा दुग पणगं उत्तरा होंति॥" प्रत्येक मूल कर्म्म की उत्तर प्रकृतियों की क्रम से संख्यामात्र बताई है। इसके पीछे अधिकार भरमें उत्तर प्रकृतियों के नाम और स्वरूप का वर्णन कहीं भी नहीं है, परन्तु विना सिलसिले के किसी २ मूल कर्म्म के एक दो भेदों के स्वरूप

का नाम दर्शाने वाली गाथा मिलती है। कथनक्रम सम्बद्ध हो तो वह यह चाहता है कि उत्तर-प्रकृतियों की संख्या बताये बाद उन का एक २ स्वरूप बताया जाय; और आचार्य्य महाराजाने ऐसा अवश्य ही किया होगा परन्तु प्रचलित हस्तलिखित वा मुद्रित प्रतियों में कहीं भी ऐसी गाथायें नहीं हैं। मालूम होता है या तो वे खोई गई या क्षेपण के अभिप्राय से क्रम खण्डन कर दिया गया २२वीं गाथा में उत्तर प्रकृतियों की संख्या बताये पीछे ज्ञानवर्ण के मतिज्ञानावर्ण आदि पांच भेद, फिर दर्शनावर्ण के चक्षु अचक्षु, अवधि और केवल इनका नाम तथा कार्य्य स्वरूप लिखा होता, तत्पश्चात् पांचों निद्राओं का कार्य्य लिखा जाना चाहिये था। परन्तु ज्ञानावर्णादिकी कोई भी गाथा नहीं मिलती; २२वीं गाथा के आगे पीछे ही २३, २४, २५ में ५ निद्राओं का कार्य्य स्वरूप दर्शा ने वाली गाथायें हैं। इससे ज़ाहिर है कि ज्ञानावर्ण के ५ भेद और दर्शनावर्ण के आदि के ४ भेदों की गाथायें जरूर थीं परन्तु अब वे नहीं मिलतीं। इसी तरह ३४ गाथा तक अर्थात् १२ गाथाओं में विषय-क्रम की शृङ्खला खंडनरूप में है, पूर्वापर का जोड़ जाता रहा परन्तु ३५वीं गाथा से लेकर अधिकार के अन्त तक बराबर तारतम्य मिलता हुआ जारहा है; पूर्व और उत्तर की गाथाओं में जरा भी असम्बद्धता नहीं मालूम होती। कर्म्म-काण्ड के शेष ८ अधिकारों में कहीं भी अन्यत्र विषय क्रम शृङ्खला का खण्डन नहीं पाया जाता, लगातार क्रम निर्देश से गाथाओं की रचना है। पाठक खुद गोम्मटसार की स्वाध्याय करेंगे तो मालूम होगा कि उपर्युक्त १२ गाथायें अपनी २ पूर्व-गाथाओं के विना अङ्गहीन हैं। संस्कृत और भाषा टीकाकारों ने इनके पूर्व से सम्बन्ध रखनेवाली आवश्यक गाथाओं का विषय अपने गद्य में जोड़कर इन छिन्न-भिन्न मोतियों को सम्बद्ध-विषय-सूत्र में पिरोकर बड़ा उपकार किया है, परन्तु मूल ग्रन्थ का खण्ड-रूप वस्त्राच्छादित

नहीं होता। उदाहरणार्थ लीजिये:-२६वीं गाथा में मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय के ३ भेद किस तरह होजाते हैं इसका वर्णन है; उसके पीछे ही २७वीं गाथा में औदारिकादि ५ शरीरों के संयोगी भेदों का वर्णन आगया, न शरीरों के नाम पहिले बताये गये न लक्षण, न उनके पहिले मोहनीय के भेद और गति आदि नाम कर्म्म प्रकृतियों की कहीं चर्चा हुई। टीकाकारों ने २६वीं गाथा को इन शब्दों से खतम किया है "इस कारण एक मिथ्यात्वरूप दर्शन मोहनीय कर्म्म के तीन भेद कहे हैं ॥ २६ ॥ फिर आगे ऐसा जोड़ा है "चारित्र मोहनीय के २ भेद हैं एक कषाय वेदनीय दूसरा नो कषाय वेदनीय, उनमें कषाय वेदनीय १६ प्रकार है, उसको क्षय होनेके क्रमसे कहते हैं-अनन्तानुबन्धी क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४, अप्रत्याख्यान क्रोध ५, मान ६, माया ७, लोभ ८, प्रत्याख्यान क्रोध ९, मान १०, माया ११, लोभ १२; संज्वलन क्रोध १३, मान १४, माया १५, लोभ १६। और नो कषाय वेदनीय के नौ भेद हैं-पुरुषवेद १ स्त्रीवेद २ नपुंसकवेद ३ रति ४ अरति ५ हास्य ६ शोक ७ भय ८ जुगुप्सा ९। आयु कर्म ४ तरह का है-नरकायु १ तिर्यञ्चआयु २ मनुष्य ३ देव आयु ४। तथा नाम कर्म्म पिण्ड (भेद वाली) और अपिण्ड (भेद रहित) प्रकृतियों से ब्यालीस प्रकार है, उन दोनों प्रकृतियों में पिण्ड प्रकृति १४ हैं गति १ (नरक १ तिर्यंच २ मनुष्य ३ देवगति ४) जाति २ (एकेन्द्री १ दो इन्द्री २ तेइन्द्री ३ चौइन्द्री ४ पंचेन्द्री जाति ५) शरीर नाम ३ (औदारिक १, वैक्रियक २; आहारक ३ तैजस ४, कार्माण शरीर ५) अब इन पांच शरीरों के भी संयोगी भेद कहते हैं।

तेजा कम्मेहिं तिए तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं।
कय संजोगे चदु चदु दुगएक्कं च पयडी ओ ॥२७॥

इससे पाठक खुद नतीजा निकाल लें कि ये गाथायें अपने पूर्वोत्तर विषय तारतम्य की अपेक्षा रखती हैं।

कर्म्म-भूमि की स्त्रियों के संहनन सम्बन्धी गाथा ३२वीं है, इसके पूर्व २८ वाँ गाथा में अङ्गोपांग के नाम हैं, संहननों के नाम कहीं नहीं। २९, ३०, ३१, इन तीन गाथाओं में यह वर्णन है कि छः संहनन वाले जीव किस संहनन से कौन २ गति में उत्पन्न होते हैं, जैसे स्टपाटिक संहनन वाले जीव स्वर्ग में उत्पन्न हों तो लांतव कापिष्ट युगल तक ही होंगे आगे नहीं इत्यादि ३३ वीं गाथा में आतप नाम प्रकृति और अग्नि काय में भेद बताया है।

अस्तु, इस ३२ वीं गाथा का पूर्वापर गाथाओं से कोई भी संवन्ध नहीं है और यह यहां बिलकुल अनावश्यक है। यदि कहीं तारतम्य में १४८ कर्म्म प्रकृतियों का वर्णन भी होता तो भी इस गाथा की वहां जरूरत नहीं होती क्योंकि इसमें कर्म्म भूमि की मनुष्यिणी और तिर्यञ्चणी के उदय योग्य संहननों का वर्णन है। और यह वहीं होना चाहिये जहां गति मार्गणा में तिर्यचों और मनुष्यों के उदय योग्य प्रकृतियों का वर्णन है अर्थात बन्धोदय सत्वाधिकार में इसका स्थान होता। परन्तु यहां तो इस संहनना भाव का कुछ जिक्र ही नहीं। यदि कहा जाय कि संहननों के वर्णन में विशेष बातों का दर्शाना जरूरी था जैसा २९, ३०, ३१ में किया गया है, इस प्रतिवाद का उत्तर यह है कि जैसी विशेषता कर्म्म भूमि की स्त्रियों के लिये कही जाती है भोग—भूमियों के लिये अन्त के पांच संहननों का अभाव भी तो वैसी ही विशेषता है उस की भी गाथा यहां ही इसके साथ ही होनी चाहिये थी, उसका वर्णन कर्म्म काण्ड के वन्धोदय के सत्वाधिकार में ३०२ और ३०३ की गाथा संख्या में क्रमानुसार क्यों किया गया। कर्म्म—भूमि ही की स्त्रियों के लिये विशेष गाथा रचकर यहाँ क्यों रक्खी गई।

इस से अपने आप ही यह नतीजा निकल आता है कि इन तारतम्य शून्य १२ गाथाओं में यह गाथा किसी अन्य का जोड़ा हुआ क्षेपक है जिस का मेल 'बन्ध सत्योदय अधिकार' के गति

मार्गणा से नितान्त ही नहीं होता। विषय सम्बन्ध से इसका स्थान वहीं होता, और यदि ग्रन्थकर्त्ता आचार्य्य को भी कर्म्म भूमि की स्त्री में उच्च संहननाभाव अभिमत था तो वे अवश्य इस का उल्लेख यहां पर करते।

पाठकों को शायद २६, ३०, ३१ गाथा के विषय में यह प्रश्न हो कि ये भी विशेषता प्रतिपादक हैं। इस का समाधान यह है कि इन गाथाओं में यह वर्णन है कि किस संहनन का जीव कहां २ उत्पन्न हो सकता है और यह कथन बन्धोदय सत्वाधिकार में कहीं भी जगह नहीं पा सकता। वहां मार्गणा और गुण स्थानों में बन्ध, उदयादि की प्रकृतिगणना है; संहनन न मार्गणा है न गुण स्थान, एवं स्वर्गों के युगल और नरक पृथिवियाँ भी मार्गणा नहीं। इस कारण जीव किस २ संहनन से कौन २ स्वर्ग युगल वा नरक—भूमि में उत्पन्न होते हैं इसका कथन संहननों के वर्णन के साथ ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। परन्तु स्त्रियों के संहननोदय का लेख तो गति और वेद दोनों मार्गणाओं में होना चाहिये, उसमें कोई विशिष्टता नहीं। स्त्रीवेद मार्गणा की गणना में हैं तथा गति मार्गणा के अन्तर्गत है। २६, ३०, ३१ गाथा का विषय ही यह कहता है कि इन के पूर्व संहननों का वर्णन करने वाली गाथायें थीं।

ऊपर लिखी हुई दलीलों से जब यह गाथा किसी दूसरे का क्षेपक साबित है तो इस में 'जिणेहि णिद्दिट्ठं' (जिनेन्द्र ने कहा है) ये शब्द भी व्याख्या करने योग्य होजाते हैं। इसका निर्म्माता ग्रन्थाध्ययन करने वालों पर प्रारम्भ में ही 'जिनेन्द्रने कहा है' ऐसे कहकर उस मतभेद का ज़ोर डालता है जो उस के दिमाग़ में खूब बसा हुआ है और जिस का प्रचार करना वह अपना पहिला कर्त्तव्य समझता है। वह इस कथन के 'जिनोक्त' होने की प्रतीत विशेषता से दिलाता है।

एक बात इस गाथा के मुताल्लिक़ और विचारणीय है जो इस ग्रन्थ के पठनाधिकारियों की योग्यता है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती ने अपने गृहस्थ शिष्य चामुण्डराय के लिये धवलादि ग्रन्थों का सार लेकर रचा है, अतः कम—बद्द १४८ प्रकृतियों का वर्णन नहीं किया, आचार्य्य महाराज ने इसके पठनाधिकारी में इतनी योग्यता पूर्व ही समझकर अपनी रचना की होगी, क्या चामुण्डराय कर्म्म की उत्तर प्रकृतियां भी नहीं जानता था। इस तर्क का समाधान हमें यहीं मिलता है कि जब इस ग्रन्थ के पठनाधिकारी में इतनी योग्यता का होना पहिले ही मान लिया गया था तो फिर आठ अङ्गों के नाम सिखाने की क्या जरूरत थी; आठ अङ्गों के नाम बच्चे भी जानते हैं। जो चामुण्डराय ज्ञानावर्ण, दर्शनावर्ण, अन्तराय, मोहनीय तथा नाम कर्म्म की कठिन २ अवान्तर प्रकृतियों के नाम और स्वरूप को जानकार थे उन्हीं को आठ अङ्गों के नाम सिखाये जायँ, यह क्या? यह तो ऐसा ही हुआ जैसे किसी विद्यार्थी को गणित में त्रैराशिक का ज्ञाता कहना और फिर सैकड़ा या हज़ार की संख्या से अनभिज्ञ बताना। क्या चामुण्डराय ८ अंगों के नाम भूल गये थे?

यदि प्रकीर्ति समुत्कीर्तन में इतनी ही गाथाओं का होना स्वीकार करें जितनी कि हैं और कोई क्षेपक न मानकर उक्त गाथा को ग्रन्थकर्ता आचार्य्य की रचा हुई मानें तो इस युक्त तर्क का समाधान करना जरूरी ठहरेगा कि यह गाथा जैसा ऊपर दिखा चुके हैं 'बन्धोदय सत्वाधिकार' में होनी चाहिये थी, यहां क्यों रक्खी गई। और बन्धोदय सत्वाधिकार में पर्याप्त मनुष्य और स्त्री, तिर्यंच तिर्यंचनी के छहों ही संहननों का उदय लिखा है। ग्रन्थकार के ज्ञान में इस विषय के दो मत थे या एक? इसका उत्तर साफ २ यही निकलता है कि "स्त्री के अन्तिम तीन ही संहनन होते

हैं,, यह किसी आचार्य्य का वा आचार्य्य समुदाय का विशेष मत होगा, सामान्य क्रमागत और बहुमान्य वही मत था जो 'बन्धोदय सत्वाधिकार, में है। ग्रन्थकार ने इस आचार्य्य-विशेष मत का प्रचार करना मुख्योद्देश्य समझा और प्रारम्भ में ही विषय क्रम को तोड़कर भी इसको स्थान दिया जिससे ग्रन्थ के अध्ययन कर्त्ता की राय स्वेष्ट मत में प्रवर्त्त जाय। परन्तु बहु-मान्य पूर्वागत उदयाधिकार को परिवर्त्तन करने अथवा उसका स्पष्ट अपवाद करनेका कोई भी प्रबल हेतु इस मत के दलके पास नहीं था जिससे एक निश्चयात्मक कथन न करके उभयमतों को ही ग्रन्थ में लिखना पड़ा; हां! जिसका प्रचार करना लक्ष्य में था उस को ग्रन्थारम्भ में प्रथम लक्ष्य–स्थान दिया।

करणानुयोग में भी आचार्यों के मतभेद थे और समय पाकर वे ही कषाय निमित्त तथा सङ्घ भेद के कारण हो सकते थे। इसके कुछ उदाहरण गोम्मटसार से ही पाठकोंके अवलोकनार्थ उद्धृत हैं। इन मत-भेदों में सर्वज्ञ का क्या कथन था उसका पता ग्रन्थ निर्माता ने कुछ भी नहीं दिया। (क) मिश्र गुण स्थान में किसी जीव का मरण नहीं होता, परन्तु किसी २ आचार्य्य के मत के अनुसार होता है। (जीव काण्ड पृ० ११ गा० २४) (ख) एक आचार्य्य के मत से सर्वार्थ सिद्धि के देवों का प्रमाण मानुषियों से तिगुना है, दूसरे के मत से सतगुना है (ग) नरक तिर्यंच मनुष्य तथा देव गति में उत्पन्न होने के प्रथम समय में क्रम से क्रोध, माया, मान और लोभ का उदय होता है। परन्तु किसी २ आचार्य्य का मत है कि ऐसा नहीं होता। (घ) मरते समय जीवके वही परिणाम होजाते हैं जैसे कि आयु-बन्ध के समय थे, दूसरे आचार्यों का मत है कि ऐसा नहीं होता। (ङ) कर्म्म काण्ड गाथा ३६१, ३६२, ३६३, ३६४।

अब हम इस प्रथम हेतु की आलोचना का सार लिखकर पाठकों के सामने संहनन सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रश्न रखते हैं जिनका

उत्तर पाठक खुद विचारें। ये प्रश्न हमारी आलोचना का कुछ और ही विशदाकार दिखलावेंगे जिसको हम पाठकों के अनुभव पर छोड़ते हैं।

(आलोचना का सार)

१, भोग-भूमि में अन्त तक स्त्री के छहों संहनन बताना और कर्म-भूमि में एक साथ आदिम तीन का अभाव कहना जैनतत्त्वज्ञान के हानि-वृद्धि-विकास सिद्धान्त के विरुद्ध है।

२, गोम्मटसार में जो गाथा इस विषय की है वह क्षेपक असम्बद्ध है, बन्धोदय सत्वाधिकार में छहों संहननों का उदय साफ २ लिखा हुआ है।

३, करणानुयोग की बहुत सी कथनी में बहु—मान्य नियम से कई आचार्यों का मतभेद था और वे भी अपने २ मत को सर्वज्ञोक्त ही मानते थे, कषाय का कारण पाकर वही सङ्घ-भेद का कारण हो सकता था। स्त्री के अन्त के तीन संहनन ही होते हैं, यह बहु मान्य नियम तो था नहीं, स्यात् किसी आचार्य्य का विशेष मत हो, कषायवश उसी ने समय पाकर आम्नाय का सङ्घ—भेदक रूप धारण कर लिया॥

* ४, स्त्रीमात्र के लिये भूत भावी और वर्त्तमान तीनों कालों में यह निरपवाद नियम प्रत्यक्ष से भी बाधित है यह कथन सर्वज्ञ का नहीं हो सकता।

(संहनन सम्बन्धी प्रश्न).

संहनन हाड़ों के समूह को कहते हैं, शरीर में भिन्न २ अङ्गोपांग की हड्डियां जुदी २ हैं। जैनतत्त्वज्ञान के अनुसार ये हड्डियाँ शारीरिक ढाँचे में तीन तरह से जुड़ सकती हैं:— क) परस्पर

* फुट नोट—रामपुर्त्ति और ताराबाई को ही देखिये।

हड्डियों में अस्थि (हाड़) ही की कीलें ठुकी हों और उनपर हाड़ ही का वेठन हो। (ख) हाड़ का वेठन न हो परन्तु कीलों से जुड़ी हों (ग) न कीलें हों न वेठन हो सिर्फ नसों स्नायुओं और मांस से बंधा हों। इन में से (क) वाले शरीरी इस काल में नहीं होते, (ख) और (ग) वाले ही होते हैं। २५०० वर्ष पहिले (क) वाले भी होते थे। पाठक इस में निम्न लिखित प्रश्नों का स्वयं ही समाधान और निर्णय करें:—

१—हड्डियों के जोड़ों में जब कीलें ठुके हों तो अङ्गोपांग मुड़ नहीं सकते, वे एक ही सीध में रहेंगे, तब चलना फिरना हाथ पैरों का हिलना कैसे मुमकिन है। ये कहीं शास्त्रकारों की उपमायें समझाने के लिये तो नहीं हैं। वज्रर्षभ नाराच से यह मुराद तो नहीं है कि हड्डियां वज्र के समान मज़बूत हों और वे आपस में ऐसी दृढ़ जुड़ी हों मानों इन में वज्रमय कीले ठोंक दिये हों और वज्रमय वेठन लगा दिये हों।

२-ऐसा माना है कि अर्द्धनाराच, कीलक और सृपाटिक तीन संहननधारी मनुष्य ही इस पञ्चमकाल में होते हैं, उन की पहिचान क्या है? इस समय की Anatomy (अङ्गरचना शास्त्र) वा आयुर्वेद में कहीं ऐसा विधान है क्या कि मनुष्यों की शरीर की हड्डियां परस्पर अस्थिमय कीलों से जुड़ी हुई हैं, हजारों शरीरों की चीर फाड़ नित्य दुनियां में होती है क्या हड्डियों में कीलें निकली हैं?

३-संहनन जन्म से ही ध्रुव होते हैं वा उन में फिर भी परिवर्त्तन होता है? सृपाटिक संहनन वाला यावज्जीवन वैसे ही रहेगा या व्यायाम, औषधिप्रयोग अथवा हठ योग की क्रियाओं से कील की, अर्द्ध-नाराच की भी उत्पत्ति कर सकता है?

४-मनुष्य को अपने निज संहनन का बोध कैसे हो? चतुर्थकाल में वज्रर्षभनाराच संहनन वालों को अपने संहनन का बोध होता

था कि नहीं, नारायण प्रतिनारायण आदि इसी संहनन के धारी होते थे, उनके शरीरों में शस्त्राघात किस २ जगह सम्भव था; वे शस्त्र से मर सकते थे कि नहीं?

अब हम गुणस्थान और मार्गणा अधिकार से स्त्री मोक्ष न होने के हेतु का विचार करेंगे। हम पहले हेतुकी आलोचना में दिखला चुके हैं कि करणानुयोग के कई विषयों में आचार्यों का मतभेद था गोम्मटसार में इसके उदाहरण मौजूद हैं। आचार्यों के मतभेद ही कषायवश सङ्घ और आम्नाय भेदों के कारण हुए हैं। अभी तक प्रायः हमारे दिगम्बर भाई यही समझे हुए हैं कि श्वेताम्बर लोगों के धर्मज्ञान और हमारे धर्मज्ञान में समानता है ही नहीं, यदि है भी तो बहुत ही कम। यही हाल श्वेताम्बरों का दिगम्बरों के प्रति है। बाल्यावस्था से ही क्या श्वेताम्बरी और क्या दिगम्बरीय दोनों पारस्परिक मतभेद की बातें सुनते रहते हैं और केवल निजाम्नाए के ग्रन्थों के पठनपाठन से ही भेद विषयों का बोध प्राप्त करते हैं। इससे उभय आम्नायके समान और भेद रहित तत्वज्ञान से दोनों ही आम्नाय वाले अपरिचित रहते हैं और यह ख़याल पैदा ही नहीं होता कि हम दोनों फिरकों में भेद ही भेद नहीं है किन्तु उभयपक्ष के मान्य विशाल आत्मज्ञान चर्चा है जो अन्यत्र कहीं भी नहीं, तथा इस श्रेयस्कर आत्मज्ञान के मुकाबिले में ये भेद विषय पर्वत के सामने राई के सदृश हैं। भेद विषयों की तरफ निरन्तर दृष्टि रहने से दोनों आम्नाय वाले सङ्कीर्ण हृदयी हो गये और औदार्य्य खो बैठे। यदि कोई दिगम्बराम्नायी किसी श्वेताम्बरी साधु के पास जाय अथवा यदि कोई श्वेताम्बरी दिगम्बराम्नायी पण्डित के पास जाय तो साधु महाराज या पण्डित जी उनसे आम्नाय-भेद के विषयों की वार्ता ही छेड़ेंगे और कोई भी ऐसी ज्ञान चर्चा नहीं करेंगे, जिससे आगन्तुक को धर्मलाभ हो और वह यह समझे कि मैंने आज साधु दर्शन वा पण्डित जी

की भेंट से उनके दर्शन अनुभव का अमुक विशेष तत्वज्ञान प्राप्त किया आत्मोन्नति का मार्ग सीखा । भेद विषयों की परिधि से बाहर कोई भी साधु वा पण्डित अपने इतराम्नायी तथा इतर पन्थी से बात नहीं करता । जहां कहीं भी जाइये केवली के आहार, स्त्री की मुक्ति वस्त्र सहित मुनि, मुख पट्टी, अव्रती देश व्रती के दान देने में पाप, स्थानकों में रहने में पाप, मूर्त्ति पूजा में पाप, बस, बातचीत के ये ही परिमित विषय मिलेंगे। गुणस्थान और मार्गणा बन्धोदयोदीरण सत्व, सप्त नय, निक्षेप; अनुयोगद्वार, सप्त भङ्ग; भाव सामायिक, निश्चय दर्शन; अन्तःकरणीय देव पूजन, ५३ भाव जैसे आत्मस्वरूप प्रबोधक विषय कि जिनके मनन, श्रवणाध्ययन से कर्म्मों की निर्जरा तथा सम्वर होता है और चर्चा करने वालों को पुण्या-नुबन्धी सातिशय पुण्य की प्राप्ति होती है, इनका नाम तक कोई नहीं लेता क्योंकि इनमें कोई मतभेद नहीं और जिनके संस्कारों में मत भेद विरोध के सिवाय कुछ है ही नहीं, जिनके मस्तकों में आम्नाय और पन्थ-भेद के ज्ञान के अतिरिक्त आत्म-कल्याण कर-तत्व-ज्ञान की वासना ही नहीं उनको विरोधानन्दी आत्मायें सूक्ष्म तत्वचर्चा एवं परमब्रह्मानुभव से कोसों दूर भागे इसमें आश्चर्य ही क्या । अस्तु, उपर्युक्त तात्विक विषयों के ज्ञान से लाखों जैनी वंचित हैं और इनके बोध के बिना न तो आत्म-कल्याण होता और न सत्यासत्य तत्व—निर्णयक अनुभव की उद्भूति होती । हमारे प्रकृत हेतु की आलोचना करने और समझने के लिये इसकी बड़ी जरूरत है कि गुणस्थान, मार्गणा आदि का बोध हो और उसके साथ इसका भी ज्ञान हो कि जैन की दोनों आम्नायों में उभय—स्वीकृत विषय कौन कौन से हैं और मत-भेद के कौन कौन से । इसके बिना हेतु आलोचना में गति नहीं हो सकती । अतः पाठकों के लिये प्रथम कुछ संक्षेप में ऐसी ऐसी तात्विक और भेदा-भेद की बातें लिख देना उचित होगा जो लेख विषय से सम्बन्ध रखती हैं और तत्व निर्णय में मदद देंगी ।

श्रीसर्वज्ञ तीर्थङ्करों ने समस्त संसारी जीवों के कर्मेन्द्रिय से चढ़ने उतरने भावों की १४ स्थानों में छांट की है जिनको गुणस्थान कहते हैं, जो जीव जिस गुणस्थान के परिणामों से युक्त होता है वह उसी गुणस्थान वाला कहा जाता है। इन परिणामों के १४ स्थानों में से ११ तक तो ऐसे हैं जिनमें जीव चढ़कर नीचे भी उतरता रहता है। परन्तु १२ वे' क्षीणमोह में पहुंचे बाद १३ वे' संयोग केवलि-जिनमें अवश्य चढ़ता है फिर नीचे पतित नहीं होता और जीवन्मुक्त अर्हन्त होजाता है। यह गुणस्थान क्रम केवल परिणामों के आश्रित बांधा गया है, इसका सम्बन्ध किसी वाह्य लिंग वा वेष से नहीं है। गुणस्थान का यह स्वरूप दोनों आम्नायों और पन्थों में सूत्र वचनों से तो स्वीकृत है, परन्तु वर्त्तमान में जड़ यन्त्रवत क्रिया कांड के पक्षपाती अपनी अपनी आम्नायचर्या निज पन्थ की साधु समाचारी ही को गुणस्थान समझते हैं और न जैन लिंगी के सिवाय जैनेतर साधुओं में साधुत्व गुणस्थान की संभावना मानते हैं। कोई नग्नत्व का पक्ष लेता है। तो कोई अम्बरत्व का कोई श्वेत वस्त्र में गुणस्थानारोपण करता है तो कोई पीत में कोई थानक में तो कोई गृहस्थ शाला में, कोई मुख पट्टी में, कोई कच्ची पक्की रसोई के चौके में वा कपड़े पहिने भोजन करने न करने में इत्यादि देशकालानुसार वाह्य स्थिति को ही जैनों ने इसकाल में गुण-स्थान मान रक्खा है। यदि पृथक् २ पंथाम्नायों के साधुओं और पण्डितों से क्रियाकाण्ड, तथा वाह्य वेश की बात न करके गुणस्थान का स्वरूप पूछा जाय तो सब एक मत से वही उदार असंकीर्ण सर्व जीवापेक्षी स्वरूप कहेंगे जो श्रीवीतराग सर्व तीर्थंकरों ने कहा है, क्योंकि उस समय स्वाम्नाय और पन्थ चर्यापर उपयोग नहीं रहता, परन्तु पन्थाम्नाय की चर्या वा मत भेद की ओर किंचित् उपयोग फिरा देने से वे ही लोग निजाम्नाय और पन्थों के गृहस्थ एवं साधुओं के सिवाय किसी अन्य में अव्रत,

देशव्रत वा साधुत्व का ४ था, ५ वां और छठा गुणस्थान होना कभी स्वीकार नहीं करेंगे । पन्थाम्नाय और मत-भेदों के विपक्ष में गुणस्थान पुष्टि की चर्चा छेड़ते ही साधु और पण्डित लोग मचल जाते हैं और अनेकान्त-मय सार्व-भाव-ग्राही निर्दोष सिद्धान्त की अपने २ पक्ष पोषण में टीकायें करने लगते हैं । गोम्मटसार में गुणस्थान का स्वरूप यह लिखा है:-

जेहिं दु लक्खिज्जन्ते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुण सराणा णिद्दिट्ठा सव्व दरसीहिं ॥
यैस्तु लक्ष्यन्ते उदयादिषु सम्भवैर्भावैः ।
जीवास्त गुण संज्ञा निर्दिष्टाः सर्व दर्शिभिः ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीयादि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने उसी गुणस्थान वाला और परिणामों को गुणस्थान कहा है ।

गुणस्थानों के नाम और कालस्थित से प्रकट है कि मोह और योग ही की मुख्यता से गुणस्थान की सम्भूति होती है । और किसी बात की अपेक्षा गुणस्थान में नहीं रक्खी गई । इन में भी मन वचन काय के योग की अपेक्षा १३ वें और १४ वें गुणस्थानों में ही है शेष १२ में मोहनीय कर्म के उदयादिक भावों ही से गुण क्रम की रचना है ।

जीव मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में तभी प्रवेश करेगा जबकि वह पहले गुणस्थान मिथ्यात्व से अविरत सम्यग्दृष्टि नामा चौथे गुणस्थान पर आवेगा । वह चौथा गुणस्थान चारों गतियों में मन सहित जीवों ही के होसकता है । स्त्री, पुरुष; नपुंसक सब इसके अधिकारी हैं । एकबार भी चतुर्थ गुणस्थान में आया हुआ जीव एक नियत अवधि (अर्द्ध पुद्गल परिवर्त्तन) के भीतर कभी न कभी

मुक्त हो ही जायगा। तीन दर्शन मोहनीय अर्थात मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व, तथा चार अनन्तानुवन्धी कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) इन सात प्रकृतियों के उपशम, सर्वथा क्षय, अथवा सम्यक्त्व के उदय और शेष छः के अनुदय से जीव के जो परिणाम हैं वही अव्रतसम्यग्दृष्टि नाम चौथा गुणस्थान है।

इस गुण-स्थान के उपरोक्त लक्षण और सम्यक्त्व के स्वरूप में किसी भी आम्नायी और पन्थी का मत-भेद नहीं है, सब कोई यही कहेंगे कि जिनेन्द्र ने तत्वों और पदार्थों का जो स्वरूप कहा है उसमें यथावत् श्रद्धान का होना सम्यक्त्व है। परन्तु हरएक आम्नाय और पन्थ वाले अपने २ मत विषयों को जिनेन्द्र का कहा हुआ मानते हैं किसी अन्य का नहीं, अतः निजाम्नाय से प्रतिकूल वा अन्यथा श्रद्धानी को परस्पर में मिथ्यात्वी समझते हैं। यद्यपि सम्यक्त्व की व्याख्या इस लेख का विषय नहीं है तथापि इस ओर पाठकों का लक्ष्य इतना सा दिला देना प्रयोजन भूत है कि सम्यग्दर्शन चारों गतियों में होता है, भारतीय जैनों में ही नहीं, इस लिये इन आम्नाय और पन्थ के मत भेदों से बाहर तथा इनकी आग्रह कालिमाके अस्पर्श जो सम्यक्त्व तिर्यञ्चों में होता है उसीको शुद्ध सम्यक्त्व कहना पड़ेगा। वह सम्यक्त्व क्या है, इसको पाठक खुद विचारें। आधुनिक जैनों ने सम्यक्त्व को हव्वा बना रक्खा है और जिस तरह मुसलमानों में मूर्खता तथा कषाय जनित रूढ़ि-वश काफ़िर शब्द का प्रयोग प्रचलित है वैसे ही जैन समाज में मिथ्यात्वी का व्यवहार है।

पाँचवां गुणस्थान देश व्रत का है। यह गुणस्थान चार अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने से तथा प्रत्याख्यानावरण के उदय से होता है देव नारकी भोग-भूमि के मनुष्य-तिर्यञ्चों में यह गुण-स्थान नहीं होता, इसका सम्भाव केवल कर्म-भूमि के मनुष्य और पञ्चन्द्रिय तिर्यञ्चों में है।

स्त्री, पुरुष, नपुंसक तीनों ही इसकी योग्यता रखते हैं। चौथे गुण-स्थान के भाव सहित हिंसादि पापों के अणुरूप त्याग से जो अवस्था जीव की होती है वही यह विरताविरत गुण-स्थान है। इस लक्षण में दोनों आम्नाय वाले सहमत हैं परन्तु इसके व्यवहार रूप ग्यारह प्रतिमाओं में दोनों का भेद है।

सकल संयम को रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषाय के उपशम और चारों संज्वलन तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन ९ नव कषायों के उदय से प्रमत्त विरतनामा छठा गुण-स्थान होता है। इस गुण-स्थान वाला जीव महाव्रती होता है, तथापि इन्द्रिय विषय, कषाय, विकथा और निद्रा इन पांच प्रमाद दोषों से युक्त है। यह गुण-स्थान केवल कर्म-भूमि के मनुष्यों ही के होता है, अन्य गतियों में नहीं। इस गुण-स्थान वाले जीव की मुनि वा साधु संज्ञा है। कर्म-प्रकृतियों के उदय की अपेक्षा इस गुण-स्थान में दो विशेषतायें लक्ष्य हैं:—

१—इस गुण-स्थान वाले जीव के नीच गोत्र और अयशस्कीर्ति इन दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता।

२—छहों ही संहनन वाले जीवों को यह गुण-स्थान प्राप्य है क्योंकि ७वें गुण-स्थान तक छहों संहननों का उदय है, ८वें में अन्तके तीनका उदय नहीं कहा।

स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों ही वेदों का उदय ९ वें गुणस्थान तक है आगे के पांच गुणस्थान में किसी भी वेद का उदय नहीं। इसे पाठक ध्यान में रक्खें।

७ वें गुण–स्थान में प्रमाद नहीं उसकी अप्रमत्त संज्ञा है।

छठा गुणस्थान उतार का है चढ़ाव का नहीं। ४ थे में से वा ५ वें से जीव सीधा ७ वें में जायगा और वहां से अवश्यमेव गिर कर छठे में आवेगा। छठे और सातवें का काल अन्तर्मुहूर्त (२ घड़ी

वा४८ मिनट) है अगर अन्तर्मुहूर्त के पीछे भी जीव प्रमादी रहे तो छठे से नीचे उतर जायगा अथवा फिर ७ वें में चढ़ेगा। ऐसे ६ से ७ वें और सातवें से छठे में उतार चढ़ाव उस समय तक होता रहेगा जब तक ७ वें से आगे चढ़ने की श्रेणी बांधने के मन्द कषाय रूप परिणाम न हों। इससे सम्भव है कि एक जीव अपनी आयु भर छठे या सातवें दोनों में अथवा १ से ७वें तक उतरता चढ़ता रहे और ७ वें से आगे की श्रेणी पर आरोहण किये बिना ही मृत्यु गत होजाय।

मोह और तीनों योगों की अपेक्षा रखकर जैसे गुणस्थान का काम है उसी तरह स्थूल रूप से समस्त कर्म्मों और दर्शन ज्ञान चारित्रादि के आश्रित १४ मार्गणा भी जैनत्व ज्ञान में कायम किये गये हैं। ये मार्गणा गुणस्थानों की तरह जीवों की भावोन्नति वा अवनति के दर्जे नहीं हैं किन्तु पृथक् २ धर्म्म विशेष हैं जिनमें जीवों की खोज की जा सकती है। अर्थात् संसारी जीव इन १४ धर्म्म विशेषों में पाया जाता है। देवादि ४ गति, ५ इन्द्रियां, पृथ्वी आदि ६ काय मन वचन और काय के योग, स्त्री, पुरुष, नपुंसक ३ वेद इत्यादि १४ मार्गणा हैं जिनके उत्तर भेद ७४ होते हैं। इन १४ मार्गणाओं में कर्म्मों की १४८ प्रकृतियों के उदय, बन्ध और सत्व तथा गुणस्थानों की सम्भावना का वर्णन करणानुयोग में है।

श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यका ये धर्म्म के चार सङ्घ होते हैं।

ऊपर लिखी हुई बातें दोनों आम्नाय वालों को मान्य हैं, परन्तु इन्हीं के आधार पर जो व्यवहार भेद उठ खड़े हुये हैं उनको सुनिये:-

दिगम्बराचार्य कहते हैं:-

स्त्री और नपुंसक इनके ५ ही गुणस्थान होते हैं, छठा नहीं; होना चाहे वे पञ्च महाव्रत ही क्यों न धारण कर लेवें। द्रव्य स्त्री

और द्रव्य नपुंसक मुक्ति नहीं पा सकते।

कमण्डलु, पिच्छिका के सिवाय तिल तुषमात्र भी रखनेवाला षष्ठ गुणस्थानी नहीं होगा, अर्थात् एक वस्त्रधारी गृहत्यागी महाव्रती भी मुनि नहीं है।

नग्न दिगम्बर होकर जिन दीक्षा लेने वाला ही मुक्त हो सकता है और कोई नहीं परन्तु जिन दीक्षा के योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णी होंगे, शूद्र वर्णी नहीं।

इसके खिलाफ श्वेताम्बर सम्प्रदायी कहते हैं कि:-

स्त्री और नपुंसक दोनों ही पुरुष वेदी की तरह छठेगुणस्थान ही क्या चौदहवें तक पहुंचकर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, अनन्त स्त्री सिद्ध और नपुंसक सिद्ध हो चुके हैं।

गृहस्थ को भी षष्ठ गुणस्थान होता है और गृहस्थावस्था में केवल ज्ञान तक होजाता है। भगवान् की आज्ञा के अनुसार वस्त्राच्छादन, रजोहरण रखने वाले महाव्रती मुनिको साधु न मानना उत्सूत्री होना है।

शूद्र भी महाव्रती हो सकता है और निर्वाण प्राप्त कर सकता है, केशी ऋषि तो चाण्डाल थे वे भी पूज्य मुनि हुये।*

अनन्त जीव ऐसे हुये हैं जो जिन वेष के धारी नहीं थे परन्तु उन्होंने अपने समभावों से मोह को जीतकर आत्मत्व प्राप्त कियो और सिद्ध होगये, उनके कोई जैन लिंग (चिन्ह) नहीं था इस अपेक्षा से वे अजिन लिंगी सिद्ध नाम से विख्यात हुये। मनुष्य

* श्वेताम्बराम्नायी इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो करते हैं परन्तु क्रिया में इसके सर्वथा प्रतिकूल हैं पन्थ और गच्छों के पक्षमें फंसे हुये हैं। यदि कोई फारसी मुसलमानी अथवा शूद्र दीक्षेच्छु हों तो साधुलोग कभी दीक्षा नहीं देंगे।

किसी भी अम्बर का धारी क्यों न हो और उसका कैसा भी बाहरी वेष हो जिन दीक्षा ले या न ले, यदि वह राग द्वेष रहित है और शाश्वत सामायिक में रहता है तो अवश्य केवल ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होगा।

सेयंवरोय असंवरोय बुद्धो वा हवइ अण्णोवा।
समभाव भावि अप्पा लहई मोक्खं न संदेहो॥ हरि भद्र सूरि*॥

इस प्रकार गुणस्थान, मार्गणा और उनके सम्बन्ध में दोनों आम्नायों के भेदाभेद मत से वाकिफ़ होकर हमारे पाठक मार्गणाधिकार में स्त्री मुक्ति, विषयक ऊहापोह सरलता से कर सकेंगे।

---

[२]

दिगम्बराम्नाय वालों का कहना है कि स्त्रीवेद का जो उदय ९ वें गुणस्थान तक होता है तथा स्त्री वेद मार्गणा में ९ गुणस्थान की सम्भावना कही गई है वह भाव स्त्री की अपेक्षा से है, द्रव्य स्त्री केवल देशव्रत नामा ५ वें गुणस्थान तक ही चढ़ सकती है आगे नहीं।

(आलोचना)

हमको पहिले यह देखना चाहिये कि वेद क्या है और वेद के स्त्री पुरुष और नपुंसक ये तीन भेद क्यों हुये द्रव्यवेद और भाववेद से क्या अभिप्राय है और वेदों के इन दो उत्तर भेदों की उत्पादक कर्म प्रकृतियां १४८ संख्या में भी हैं कि नहीं एवं वेदों के ये दो २ प्रकार वास्तव में हो भी सकते हैं क्या; इत्यादि।

---

* साधुओं में पीत वस्त्र और श्वेत वस्त्र का पक्ष और आग्रह बांसों चढ़ा हुआ है। पीताम्बरी श्वेताम्बरी को और श्वेताम्बरी पीताम्बरी को मुनि ही नहीं मानते। आधुनिक श्वेताम्बर समाज की स्थिति आचार्य के उक्त वचनों के सर्वथा विपरीत है।

कर्म तत्वज्ञान में वेद शब्द एक विशेष अर्थ में लाया गया है, मैथुन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं और जिस कर्म के उदय से जीव के ऐसे परिणाम हों वह वेद कर्म कहलाता है। स्त्री से रमने की इच्छा जिस कर्म के उदय से हो वह पुरुष वेद कर्म है, पुरुषके प्रति जिस कर्मोदय से ऐसा भाव हो वह स्त्री वेद कर्म और पुरुष तथा स्त्री दोनों से मैथुनेच्छाका कारण जो कर्मोदय है वह नपुंसक वेद कर्म कहा जाता है। ये तीन वेद-कर्म मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से हैं; जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति अरति, शोक, भय इत्यादि मोहनीय कर्म के भेद हैं, वैसे ही तीन वेद भी हैं।

दिगम्बराम्नाय में ऐसा माना है कि मोहनीयान्तर्गत वेद जनित मैथुनाभिलाषा परिणाम भाव वेद होता है और नाम कर्म के उदय से आविर्भूत जीव के चिन्ह विशेष को द्रव्य वेद कहते हैं। परन्तु इससे वेद शब्द की परिभाषा कुछ भी नहीं बन सकती, क्योंकि इसके दो भिन्न २ अर्थ होजाते हैं एक मैथुनाभिलाषी, दूसरा शारीरिक चिन्ह विशेष। तदुपरि हम गौर करते हैं तो उपरोक्त मतानुसार मैथनाभिलाषा और शारीरिक उपांग विशेष में जो भावत्व और द्रव्यत्व का सम्बन्ध बताया जाता है वह वस्तुतः कर्म तत्व ज्ञान के सिद्धान्त से सिद्ध नहीं होता। कर्मों के उदय, उपशमादिक से जीव की जो अवस्था होती है अथवा यों कहिये कि पूर्वक्षण से उत्तर क्षण में कर्मों के उदयादिक से पर्याय परिणमन रूप जीव का जो परिणाम होता है उसको जैन दर्शन में भाव कहते हैं; इस भाव अर्थात् जीवावस्था का युगपत् सहयोगी सहचर जो पौद्गलिक स्वरूप प्रगट या अप्रगट आविर्भूत होता है वही उस भाव का द्रव्य कहलाता है। जीव-कर्म विज्ञान में भाव और द्रव्य परस्पर सापेक्ष हैं, जैसे द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय; द्रव्य प्राण; भावप्राण, द्रव्य योग, भाव योग, द्रव्य बन्ध, भाव बन्ध; द्रव्य क्रोध भावक्रोध इत्यादि इनसे जब मिलान

करते हैं तो जो लक्षण दिगम्बराम्नाय वाले भाव वेद और द्रव्य वेद का करते हैं उसमें इन उपरोक्त उदाहृत सापेक्ष युगलों की भाँति द्रव्यत्व और भावत्व का सम्बन्ध बिल्कुल नहीं मिलता। इन उदाहरणों को विशद करके देखिये।

शरीर और आठों अंग तथा उपाँग, इनकी रचना नाम कर्म के उदय से होती है, परन्तु इनकी प्राप्ति और इनको कार्य्य में प्रवर्ता ने की शक्ति जीव में है जो अन्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत होती हैं। नाम कर्म का कार्य्य केवल यथा योग्य पुद्गल परमाणुओं के संगठन एवं यथा स्थान वा प्रमाण निर्माण कर देने का है और कुछ नहीं; यह संगठन और निर्माण भी मूल में अन्तराय के क्षयोपशम पर निर्भर है। पांचों इन्द्रियों की रचना नाम कर्म से होती है परन्तु उनको कार्य्य में लेने और स्वविषय से उपयुक्त करने की शक्ति जीव में ज्ञानावरण और अन्त-राय के क्षयोपशम से प्रगट होती है, नाम कर्म कुछ नहीं कर सकता। इसी सूक्ष्म भेद के आधार पर इन्द्रिय के दो भेद हो गये; निर्वृति (रचना) और उपकरण (रचना के सहायक) रूप द्रव्येन्द्रिय तथा लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय। अब इसी तरह के वेद के भेद कीजिये। नाम कर्म के उदय से स्त्री पुरुष के गुह्याङ्गों की रचना विशेष को द्रव्य वेद कहेंगे एवं जीव की वह शक्ति जो इन उपाँगों को प्राप्त करती है तथा कार्य्य में लेती है और जिसकी आविर्भूति अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है वही भाव वेद है; नोकषाय जनित रमणेच्छा नहीं।

आत्मा की जिस शक्ति के निमित्त से इन्द्रियादिक अपने कार्य्य में प्रवर्तें उसे भाव-प्राण कहते हैं; यह शक्ति अन्तराय और ज्ञाना-वरण के क्षयोपशम से उद्भूत होती है। पांचों इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास, आयु ये दश द्रव्य प्राण हैं। भाव प्राण के लक्षण से समीकरण में भी रमणेच्छा को भाव वेद नहीं कह सकते॥

आँगोपांग नाम कर्म और शरीर नाम कर्म के उदय से पर्याप्ति-पूर्ण संसारी जीव के समस्त प्रदेशों में रहने वाली कर्मों और नो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को भाव योग कहते हैं। और जीव के प्रदेशों के परिस्पंन्द को द्रव्ययोग कहते हैं। इस लक्षण से मिलान करने में भी इच्छा भाव वेद नहीं होती।

पूर्वबद्ध कर्म की उदयोदीरणावस्था से आत्मा के कषाय रूप परिणामों को भाव-बन्ध कहते हैं और इन परिणामों के निमित्त से कार्माण स्कन्ध रूप पुद्गल द्रव्य में आत्मा के साथ सम्बन्ध होनेकी शक्ति को द्रव्य बन्ध कहते हैं। क्रोध मोहनीय कर्म की उदयोदीरणा वस्था से आत्मा की क्रोध रूप परिणति को भाव क्रोध कहेंगे और देह तथा अङ्गोपांग में उसके निमित्त से जो विकृति होती है वह द्रव्य क्रोध कहलावेगी। इसी तरह वेदमें घटाइये। नो-कषाय वेद कर्मोदय जनित आत्मा की रमणेच्छा रूप परिणति भाव-वेद है और उस परिणति से बाह्य में इच्छामय अवस्था तथा देहांगोपांग के विकार एवं उदयोदीरण होते हुए कार्माण स्कन्ध द्रव्य वेद होंगे। अंगोपांग और शरीर को द्रव्य वेद नहीं कहेंगे। वेदोदय में भाव और द्रव्य दोनों का समावेश होगा। तदनुसार कारण स्वरूप वेद कर्म के उदय से रमणेच्छा के दो रूप होगये; एक जीव की तद्रूप परिणति भावेच्छा, दूसरी देहांगोपांग विकृति और कार्माण निर्जरामय द्रव्येच्छा। अतः जिसे रमणेच्छा को दिगम्बरमती भाव वेद कहते हैं वह स्वयं ही द्रव्य और भाव रूप है; इसको दूसरे शब्दों में यों कहिये कि रमणेच्छा ही द्रव्य वेद है और वही उसका भाव वेद, उससे जुदा कोई उसका द्रव्य वेद नहीं।

अब पाठक भली भांति समझ गये होंगे कि भाव और द्रव्य में कैसा सम्बन्ध होना चाहिये। दिगम्बर मतानुसार स्त्री पुरुषों के गुह्यांग रूप को द्रव्य वेद कहें तो रमणेच्छा उसका भाव नहीं होता और रमणेच्छा को भाव वेद कहें तो गुह्यांग उस का द्रव्य वेद

नहीं होता । इस से स्पष्ट है कि रमणेच्छा और स्त्री पुरुषों के गुह्यांग में जैन दर्शन शैली के अनुसार भावत्व और द्रव्यत्व का सम्बन्ध नहीं हैं ।

पाठक ग़ौर करेंगे तो विदित होगा कि स्त्री पुरुष और नपुंसक के शरीर में चिन्ह रचना के भेद को जो दिगम्बरीय मत में द्रव्य वेद कहकर नो-कषाय जनित वेद से पृथक् विचार किया है उस की कर्म तत्वज्ञान में ज़रूरत ही नहीं । हम पहिले लिखचुके हैं कि एक ही आचार्य्य का रचा हुआ गोम्मटसार ही केवल करणानुयोग का ग्रन्थ है, यदि भिन्न २ प्रान्तीय एक दो आचार्यों के लिखे हुए स्वतन्त्र ग्रन्थ इस विषय के और होते तो तत्वनिर्णय में सुविधा होती श्रीउमास्वामि रचित 'तत्वार्थाधिगम मोक्ष शास्त्र' श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों आम्नायों में मान्य और सुपाठ्य है, उस में 'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् १, 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्' २ ऐसे दो सूत्र बनाकर आचार्य्य महाराज ने इन्द्रिय के भाव और द्रव्य का स्पष्टीकरण किया उसी तरह वेद के दोनों प्रकारों का भी उल्लेख होना चाहिये था । पाठक जानते हैं कि सूत्र ग्रन्थों में कितना संक्षेप, संग्रह और लाघव से काम लिया जाता है, एक मात्रा के भी लाघव से सूत्रकार पुत्र जन्मोत्सव का साहर्य मानते हैं, उमास्वामी ने इन्द्रियों के द्रव्य और भाव भेद के लिये तो ३ सूत्र बनाये, उस को तो तात्विक दृष्टि से इतने महत्व का समझा परन्तु वेद प्रकार के लिये लेश भी संकेत न किया । "नारक सम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥" वेद के । विषय में तत्वार्थाधिगम में ये ही ३ सूत्र हैं, वहां भाव और द्रव्य वेदों के पृथक् २ होने का दिग्दर्शन तक नहीं । इस उपेक्षा का कारण यही मालूम होता है कि या तो वेद-द्रव्यत्व भेद की चर्चा पूर्व में थी ही नहीं पीछे से चली, यदि थी तो प्रामाण्य तथा सर्वमान्य नहीं थी । दिगंबर संप्रदाय में भी ऐसे आचार्य थे जो इससे अनभिज्ञ थे अथवा इस भेदीकरण को अप्रयोजन भूत ख्याल करके कर्मसा-

स्विक दृष्टि से इसमें कुछ वजन नहीं समझते थे।

आंगोपांग नाम कर्म के उदय से होने वाले शरीरगत चिन्ह विशेषों की द्रव्यवेद संज्ञा देकर मोहनीय कर्म की वेद प्रकृति के उदय से होने वाले परिणाम विशेष वेद-त्रिक से पृथक् कर्म की १४८ प्रकृति संख्या में कोई कर्म प्रकृति नहीं है। जिस तरह अन्य दर्शनों में है वैसे जैन दर्शन में इन्द्रियों के कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भेद नहीं किये गये किन्तु अङ्ग और उपांग की संज्ञा देकर आंगोपांग नाम कर्म के उदय से उनकी रचना का होना बताया है। स्त्री पुरुषों के गुह्यांगों की गणना अंगों में नहीं की और इनमें जिस २ कर्म प्रकृति के उदय से भेद विशेषता होती है उसको भी अलग नहीं छांटी। औदारिकादि शरीर भेदों से तो आंगोपांग नाम कर्म के तीन प्रकार किये गये परन्तु पुरुष, स्त्री और नपुंसक की अपेक्षा से पुरुष लिङ्गोपांग, स्त्री लिङ्गोपांग वा नपुंसक लिंगोपांग ऐसे भेद नहीं किये। यदि मोहनीय कर्मोत्पादित किसी विवक्षित वेद से शारीरिक चिन्ह दूसरा हो सकता तो स्त्री पुरुष नपुंसक लिंगोपांग की तीन अवान्तर विशेष प्रकृतियां नाम कर्म के अन्तर्गत जरूर होतीं। ऐसा क्यों नहीं हुआ, इस का कारण खोजने के लिये पाठकों को कर्म तत्वज्ञान में गहरी डुबकी लेनी होगी।

एक जन्मान्ध मनुष्य को कर्मोदय के अनुसार हम पंचेन्द्रिय कहेंगे चौइन्द्रिय नहीं कह सकते, मनुष्य तो पंचेन्द्रिय ही होगा क्योंकि मनुष्य गति में चौइन्द्रिय नाम कर्म का उदय नहीं है। परन्तु जन्मान्ध के आंख का उपयोग है ही नहीं, इससे लब्धि का अभाव कहना चाहिये, उसके इन्द्रिय की रचना भी बिगड़ी हुई है, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" के अनुसार तो उस में कुछ भी लक्षण नज़र नहीं आते फिर हम जन्मान्ध को पंचेन्द्रिय कैसे कहते हैं। पाठक यहां गौर करें विकृत वा अपूर्ण इन्द्रिय रचना तथा उस के उपयोग के अभाव में भी अन्धे के नेत्र

के स्थानों पर जो आत्म प्रदेश हैं उनके चक्षु-दर्शनाचरण और चाक्षु मति ज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम होता है, चाहे नेत्रेन्द्रिय का विषय जो वर्ण रंग) वा रूप है उस का ज्ञान अन्धे को कुछ भी न हो। लब्धपर्याप्तक निगोदिया जीव के न मन है न इन्द्रियों की पूर्ति है तथापि मति ज्ञानावरण और श्रुति ज्ञानावरण का क्षयोपशम अवश्य है और उसको अक्षर का अनन्तवाँ भाग श्रुत ज्ञान प्राप्त है जिसको पर्याय ज्ञान कहते हैं। यदि ऐसा न हो तो जीव का लक्षण ही उसमें न रहे। परन्तु "श्रुतमनिन्द्रियस्य" का सूत्र यहां कैसे लगा। इसी तरह जिसको हम नपुंसक कहते हैं उसके या तो पुरुषांगोपांग नाम कर्म का उदय है या स्त्र्यांगोपांग नाम कर्म का कारण कि पुरुष वा स्त्री के मैथुन कर्मेन्द्रिय की विकृति और अपूर्णता ही नपुंसकत्व है। स्त्री के जननेन्द्रिय और पुरुष के उपस्थ की तरह शरीरों में नपुंसकत्व सूचक पृथक् लिंग (चिन्ह विशेष नहीं होता। जिन वाह्य चिन्हों से हम स्त्री और पुरुष की तत्काल निस्सन्देह तमीज़ कर सकते हैं। उसी तरह नपुंसक को किसी चिन्ह से नहीं कर सकते। वैद्यों और डाक्टरों ने इसके सैकड़ों प्रत्यक्ष प्रमाण दिये हैं कि केवल उपस्थाकृति से ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्राणी नपुंसक है जो बाह्य चिन्हों से मैथुन के योग्य समझे गये वे अयोग्य और जन्म नपुंसक निकले एवं जो सर्वथा अयोग्य समझे गयेथे वे योग्य साबित हुए और उनसे सन्तानें पैदा हुईं। अतः जब नपुंसकत्व का कोई पृथक् चिन्ह विशेष नहीं है तो उसकी रचना का कारण कोई विशेष कर्म प्रकृति भी नहीं है। जिस तरह जन्मान्ध की आंखें विकारयुक्त एवं उपयोगार्ह न होने पर भी उसके पंचेन्द्रिय जाति और नेत्रोपांग नाम कर्म का उदय तथा चाक्षुषमतिज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण का क्षयोपशम निरन्तर रहता है वैसे ही जिस देहधारी के जन्म से ही मैथुन कर्मेन्द्रिय की विकृत वा अपूर्ण होता

तो उसके भी पुरुषोपांग अथवा स्त्र्युपांग नाम कर्म का उदय कहना ही बस होगा, तीसरी नपुंसकोपांग नाम प्रकृति की आवश्यकता ही नहीं। स्त्री और पुरुष चिन्हों के अलावा नपुंसक के किसी तीसरे चिन्ह की रचना नहीं होती; पुरुष वा स्त्री के उपांगों में विकृति तथा अपूर्णता के दोष निर्माण नाम कर्म के अभाव, असाता वेदनीय और अन्तराय के उदय से होते हैं। ऐसी कर्म व्यवस्था में स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त तीसरी नपुंसक संज्ञाकी आवश्यकताही नहीं रहती क्योंकि उसकेमेल की कोई भिन्न प्रकृति ही नहीं। चाहे बोल चाल में हम विकृत, अपूर्ण और अनुपयोगी पुरुष लिंग वा स्त्री लिंग देहधारी के लिये नपुंसक शब्द व्यवहार में लावें, परन्तु जैन दर्शन में भिन्न २ प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली संज्ञाओं में उसको जगह नहीं, वहां तो सिर्फ पुरुष और स्त्री दो ही से काम चल जाता है। अतः जिसको दिगम्बरीय मतानुसार हम द्रव्य नपुंसक कहेंगे। वह वास्तव में कर्म सिद्धान्त से या तो द्रव्य स्त्री होगा या द्रव्य पुरुष। तदनुसार नाम कर्म की अपेक्षा से यदि चिन्ह विशेषों को द्रव्यवेद कहें तो कर्मोदय के सिद्धान्तानुसार केवल दो ही द्रव्यवेद हो सकते हैं तीसरा द्रव्यवेद ही नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि विकृत वा अपूर्ण अङ्ग रचना की तीसरी कोटि के लिये नपुंसक संज्ञा रखकर हम ऐसा कह सकते हैं कि "जिस कर्म प्रकृति के उदय से पुरुष वा स्त्री के गुह्यांग अपूर्ण, विकृति अथवा अनुपयोगी हों वह नपुंसकांगोपांग नाम कर्म है" तो हमको अन्ध, पंगु बधिर, मूकादिके लिये भी पृथक् २ कर्म-प्रकृतियाँ रखनी पड़ेंगी और वे सब कर्मोदय के सिद्धान्त से विरुद्ध पड़ेंगी, क्यों कि इन सब का कारण अन्तराय और असाता वेदनीय का उदय है नाम कर्म का उदय नहीं।

यहां एक बात और विचारणीय है। जैन दर्शन में एकेन्द्रिय से ले कर चौइन्द्रिय तक सब जीव नपुंसक ही माने गये हैं। उनमें

पुरुष या स्त्री वेद का उदय नहीं। वहां नाम कर्म के उदय से कौन सा चिन्ह रूप द्रव्य वेद है जो भाव वेद का जोड़ कहा जायगा वृक्ष, लट, कीड़े, मक्खी आदि जीवों के मैथुन संज्ञा होती है। यदि यह कहा जाय कि मैथुन कर्मेन्द्रिय की रचना का अभाव ही सम्मूर्छनों में द्रव्य नपुंसकत्व है तो भी बात नहीं बनती, रचना का अभाव नाम कर्म के उदय से नहीं किन्तु अन्तरायोदय से है, परन्तु द्रव्य वेद का उदय कारण नाम कर्म माना जाता है इससे लक्षण में विपरीतता आती है। इसके साथ यह त्रुटि भी प्रकट है कि जो लक्षण द्रव्य नपुंसक का किया जाता है वह सर्व व्यापी नहीं होता मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में तो शरीरगत चिन्ह का होना और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय में उसी चिन्ह का अभाव, इस प्रकार चिन्ह का भाव और अभाव (दोनों परस्पर विरोधी) द्रव्य नपुंसक वेद का लक्षण न्याय और तर्क शास्त्र से भी बाध्य होता है।

इसी के साथ हम पाठकों को यह भी सुझाये देते हैं कि लोक में परम्पराश्रुत विचार-रूढ़ि से यही ख़याल किया जाता है कि मैथुन कर्मेन्द्रिय की विकलता और अनुपयोगिता केवल पुरुषों में ही होती है और तदनुसार नपुंसक जो होते हैं वे पुरुष ही हैं मानों स्त्री संसार में तो सभी स्त्रियां ऐसी जन्मती हैं जिनके गुह्यांग की आकृति और वाह्याभ्यन्तर निर्वृत्ति पूर्ण एवं मैथुन कर्म के योग्य होती हैं। नपुंसक शब्द भी पुंस् (पुरुष) से बनाया गया है। धर्म सिद्धान्त से यह लौकिक साधारण विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि आंगोपांग की विकृति तथा अपूर्णतादि दोष जीवों के शरीरों में अन्तराय और असाता वेदनीय के उदय से होते हैं, अन्तराय के तीव्रोदय से निर्माण नाम कर्म की लब्धि के अभाववश अङ्गोपांग की निर्म्मिति यथावत् नहीं होती। क्या स्त्रियों के जीव पूर्वभव में ऐसे अन्तराय और असाता के बन्ध से बहिर्भूत होते हैं, तब तो पुरुष जीव से

स्त्री जीव को अधिक पुण्य कृत कहना पड़ेगा। और स्त्री वेद के लिये यह नियम अपवाद रहित मानना पड़ेगा कि पूर्वभव में इसके बन्ध के समय जीव मात्र की ऐसी पुण्य परिणति रहती है कि जिसके सबब से तद्वेद सम्बन्धी अंगोपांग के अन्तराय तथा असाता वेदनीय का आस्रव एवं बन्ध नहीं होता और तदनुसार निर्माण नाम कर्म्म की पूर्ण लब्धि प्राप्त होती है। इससे पुरुष वेद प्रकृति का भाव-बन्ध, स्त्री वेद प्रकृति के भाव बन्ध की अपेक्षा पुण्यांशों में नितान्त ही नीची श्रेणी का रह जाना है जो कर्म्म सिद्धान्त के खिलाफ़ है। हमारे विचार शील पाठक नपुंसक शब्द मात्र से भ्रम में न पड़ें। नारियों की योनियां भी जन्म से ही ऐसी अपूर्ण निर्मित तथा बाह्याभ्यन्तराकृति में असाधारण होती हैं कि जिनसे किसी प्रकार भी मैथुन कर्म्म सम्भव नहीं। स्त्रियों के जननेन्द्रिय रचना और उसके रोगों के विवरण के शास्त्र पाठक स्वयं पढ़ें और नारी जाति के अनुभवी चिकित्सकों से खोज करें तो हमारे कथन का स्पष्ट प्रमाण मिलेगा और विदित होगा कि केवल पुरुषों में ही नपुंसक उत्पन्न होने का ख्याल कैसी भूल है। पाठकों के यह भी ध्यान में रहे कि हमारे वेद सम्बन्धी तर्क वितर्क पर इस लौकिक-जन-श्रुत मत का कुछ भी असर नहीं पड़ता क्योंकि सिर्फ पुरुषों ही में मैथुन कर्मेन्द्रिय की अयोग्यता वा अपूर्णता मानने से भी कर्म्मोदय के नियम के मुताबिक द्रव्यवेद दो ही होंगे तीन नहीं। विकल मैथुनेन्द्रिय पुरुष वेद का उदय हम पहिले जन्मान्ध के दृष्टान्त से सिद्ध कर चुके हैं।

इस उपरोक्त चर्चा से हमारे पाठक समझ गये होंगे कि कर्म्म-तत्व दार्शनिकों ने स्त्री पुरुषों के उपांग चिन्हों की अपेक्षा से नाम कर्म्म के अन्तर्गत तीन अवान्तर भेद क्यों नहीं रक्खे और उनको द्रव्यवेद संज्ञा क्यों नहीं दी गई, क्योंकि ऐसा करने से द्रव्य वेद दो ही होते जिन का जोड़ मोहनीय कर्म्मान्तर्गत तीन वेदों से ना-

मुमकिन था। अब प्रश्न यह हो सकता है कि गुह्यांग और मोहनीय कषाय जनित रमणेच्छा में द्रव्य और भाव का सम्बन्ध नहीं है तो फिर दूसरा सम्बन्ध क्या है, आखिर वहां भी स्त्री, पुरुष और नपुंसक ही की अपेक्षा से वेद कर्म्म के तीन प्रकार किये गये हैं। इस का उत्तर यह है:—जिस कर्म्म प्रकृति के फल देने में जो सहायक हो उस की जैन दर्शनमें 'नो कर्म्म तद्व्यतिरिक्त' नो आगम भाव कर्म्म संज्ञा रक्खी है, शास्त्रकारों ने उसके लिये सांकेतिक लघु शब्द 'नो कर्म्म, भी लिखा है; उदाहरणार्थ जैसे पांच निद्राओं का नो कर्म्म भैंस का दही, साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय का नो कर्म्म अपने को इष्टानिष्ट अन्नपान भय कर्म्म के नोकर्म्म सिंह आदिक, एकेंद्रिय आदिक पांच जातियों के नो-कर्म्म अपनी२ द्रव्येंद्रिय हैं। इसी तरह से वेद प्रकृति के फल देने में सहायक जो शरीर और उपांग है वही उसका नो कर्म्म है।

जैनतत्त्वज्ञान में जीवों के आहार, भय मैथुन और परिग्रह चार प्रकार की संज्ञायें अर्थात् वाञ्छायें बताई हैं जिनमें मैथुन संज्ञा ६ वें गुणस्थान तक रहती है। नित्य निगोदिया तथा इतर निगोदिया से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्य्यन्त अनन्त जीवों में मैथुन संज्ञा व्यक्त वा अव्यक्त प्रकार बनी रहती है। इस मैथुनेच्छा के मन्द और तीव्र अंशों की अपेक्षा से अनन्त भाग किये जा सकते हैं, तथापि छद्मस्थ बुद्धि ग्राह्य इसकी तीन जातियां जो प्रकटरूप है उनके तीन उदाहरण हैं:–तृणाग्नि की तरह जो शीघ्र ही बुझजायं १कोयले वा ऊंट के मींगणे की अग्नि के सदृश जो बहुत देर में शान्त हो २ ईंटों के भट्टे की आग अथवा नगर दाहिनी ज्वाला के समान जो शान्त ही न हो ३। तीन प्रकार की मैथुनवांछा के सापेक्षी जीवों के भी ३ भेद हुए, नो कर्म्म प्रकृतियां और उन कर्म्म प्रकृतियों के फल में सहायक नो-कर्म भी तीन तीन हुए। यहाँ यह विशेषता द्रष्टव्य है कि नगर दाहिनी अग्नि के समान मैथुनेच्छा वाला जीव

कभी भी तृप्त और शान्त-तृष्णा नहीं होता इसलिये वह अपनी इच्छा पूर्ति का कोई निश्चित साधन भी स्थिर नहीं कर सकता, तदनुसार इत उत लालायित और प्रति समय कलुषित रहता है, परन्तु इतर दो प्रकार के जीवों की इच्छा पूर्ति के साधन परस्पर में निश्चित और स्थिर होते हैं। अतः जिस २ जाति की मैथुनेच्छा की उत्पादक कर्म प्रकृति के फल देने में जिस २ प्रकार का शरीर और अंग सहायक होता है उन्हीं शरीरों के लौकिक बोलचाल के नामों को लेकर आत्मानुभवी ज्ञानियों ने पुरुष, स्त्री और नपुंसक संज्ञक तीन वेद बताये एवं इच्छा पूर्ति के साधनों की स्थिरता से उनके तीन लक्षण किये, अर्थात् स्त्री के शरीर से रमणेच्छा को पुरुषवेद पुरुष—शरीर से रमणेच्छा को स्त्री वेद और जिस इच्छा का कोई भी तृप्तिसाधन नहीं वह नपुंसक वेद। इस हेतु से जो शरीर और उपांग तथा उनकी विकृतअपूर्णावस्था लोक में पुरुष स्त्री और नपुंसक नाम से मनुष्य तिर्यञ्चों में भेद के कारण हैं - वे ही शरीर मोहनीय वेद प्रकृतियों के नो कर्म हैं। इन शरीरों और वेदों में यही सम्बन्ध है।

इस से पाठकों को यह भी साफ होगया होगा कि जिस शरीर को हम पुरुष शरीर कहते हैं, वही पुरुष वेद का नो-कर्म है, स्त्री नामधारी वा नपुंसक नामधारी शरीर नहीं, इसी तरह से स्त्री और नपुंसक वेद के नो-कर्म भी समझिये, अर्थात् पुरुष का शरीर स्त्री वेद का नो कर्म नहीं है तात्पर्य यह है कि पुरुष के शरीर में पुरुष वेद ही, स्त्री के शरीर में स्त्री वेद ही और नपुंसक के शरीर में नपुंसक वेद ही होगा, ऐसा नहीं हो सकता कि पुरुष-शरीर में स्त्री वेद का वा नपुंसक वेद का, स्त्री के शरीर में पुरुष वा नपुंसक वेद का; तथैव स्त्री-पुरुषों के नपुंसक संज्ञक शरीर में पुरुष वा स्त्री वेद का उदय हो। प्रत्येक वेद प्रकृति का उदय अपने अपने नो कर्म में ही है।

कर्म प्रकृतियों के नो कर्म का वर्णन गोम्मटसार में कर्मकाण्ड के प्रथम अधिकार में ६९ से लेकर ८५ गाथा तक है; पाठक खुद अध्ययन करें तीनों वेदों के नो-कर्म उन के शरीर हैं यह कथन ७६ वीं गाथा के पूर्व भाग में इस तरह है:-

"थी पुंसंढ शरीरं ताणं णो कम्म दव्व कम्मं तु" स्त्री पुरुष और नपुंसक का शरीर उनका नो-कर्म द्रव्य-कर्म है

प्रसंगवश यहां यह भी स्पष्ट कह देना उचित है कि एकेन्द्रिय से लेकर चौइन्द्रिय तक के जीवों में जैन दार्शनिकों ने नर मादा का भेद न करके उन में जो नपुंसक वेद का उदय माना है वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। हम पहिले दिखला चुके हैं। कि नपुंसकत्व का कोई विशेष शारीरिक चिन्ह नियामक रूप से प्रकृति में नहीं है, अपूर्ण निर्मित, विकृत तथा अनुपयोगार्ह उपांगधारी पुरुष वा स्त्री ही नपुंसक कहे जाते हैं, एवं नपुंसक वेद प्रकृति के लक्षण में भी यही है कि उस के उदय से जीव के परिणाम युगपत् स्त्री और पुरुष दोनों से रमणेच्छा के होते हैं, अतएव नपुंसक के लिये पहिले स्त्री और पुरुष का अस्तित्व जरूरी है। जिस पर्याय में स्त्री पुरुष का अस्तित्व नहीं, उस में नपुंसक का भी शरीर और भाव नहीं, नपुंसक वेद अपने उदय के लिये सदा स्त्री और पुरुष की अपेक्षा रखता है। जिस तरह पुरुष वेद और स्त्रीवेद दोनों अन्योन्याश्रयी हैं उसी तरह स्त्री और पुरुष दोनों के युगपत् आश्रयी नपुंसक वेद है, नपुंसक वेद निरपेक्ष अनाश्रित नहीं। इस लिये जैन दार्शनिक जब तक एकेन्द्रियादिक जीवों में नर मादा अर्थात् स्त्रीत्व और पुरुषत्व के अस्तित्व को स्वीकार न कर लें तब तक इन जीवों में किसी भी युक्ति और प्रमाण से नपुंसक वेद का होना सिद्ध नहीं हो सकता।

आजकल सरजगदीशचन्द्र बोस तथा अन्य विज्ञानवेत्ताओं ने प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि द्वीन्द्रियादि में ही नहीं किन्तु वनस्पति

में भी नर मादा दोनों ही तरह के जीव होते हैं और उनके उपस्थ-जननेन्द्रिय भी होते हैं। पाठक आधुनिक तत्वज्ञों के प्रत्यक्ष प्रमाणों को स्वयं देखें और मननाध्ययन करें। वृक्षों और कीड़ों में नर मादा के बिना नपुंसकवेद बताना प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी बाध्य है।

मार्गणाधिकार में स्त्री—मुक्ति—निषेधक मत की विवेचना में सुविधा से आगे बढ़ने के लिये अब तक की ऊहापोह से जो नतीजे निकलते हैं उनको हम एकत्र नीचे लिखते हैं।

(१) जीव—कर्म्म तत्वज्ञान में वेद शब्द मैथुनेच्छा के अर्थ में उपयुक्त हुआ है और वह इच्छा मोहनीय कर्म्मान्तर्गत नो-कषाय जनित होती है। (२) नाम कर्म्म के अवान्तर भेदों में स्त्री पुरुष और नपुंसक वेद की कोई पृथक् प्रकृतियां नहीं हैं, अङ्गोपांग की रचना को यदि द्रव्यवेद कहें तो कर्मोदय के नियमानुसार दो ही वेद होंगे तीसरे नपुंसक वेद की भिन्न सत्ता नहीं हो सकती। (३) लौकिक व्यवहार में चाहे किसी भी नाम से पुकारें, कर्म्म तत्वज्ञान में अङ्गोपांग निर्म्मिति की अपेक्षा से स्त्रीत्व पुरुषत्व इन दो के सिवाय तीसरे भेद की जरूरत नहीं। जिसको नपुंसक कहते हैं उसके पुरुषोपांग वा स्त्र्युपांग दोनों में से किसी भी कर्म्म का उदय माना जायगा। अतः जिसको दिगम्बरीय मत में द्रव्यवेद कहते हैं उसके दो ही प्रकार हो सकेंगे तीन नहीं, इस कारण जीव कर्मतत्वज्ञों ने नाम कर्मान्तर्गत वेद भेद रक्खा ही नहीं। दिगम्बर मतानुसार तीन द्रव्य वेदों की सिद्धि नहीं हो सकती। (४) नो—कषाय जनित मैथुनेच्छा में और स्त्री पुरुषों के गुह्यांगों में भाव और द्रव्य वेद का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु स्त्री पुरुषों के शरीर तथा उपांग मैथुनेच्छा की उत्पादक स्व २ नाम वेद प्रकृतियों के 'नो कर्म्म द्रव्य कर्म्म (फल देने में सहायक) हैं। (५) जीव की परिणति मैथुनेच्छा रूपवेद का भाव वेद है और पौद्गलिक विकारावस्था उसका द्रव्यवेद है गुह्यांग द्रव्यवेद नहीं कहे जा सकते। (६) पुरुष

स्त्री और नपुंसक तीनों वेद प्रकृति के जुदे२ नो कर्म्म द्रव्य कर्म स्व स्व नाम संज्ञक शरीर ही होंगे अर्थात् वेद प्रकृति और शरीर रूप नो कर्म्म द्रव्य कर्म्म एक ही होंगे विपरीत नहीं (७) वस्तु स्वभाव तथा कर्म्म—तत्व विधान के अनुसार किसी भी जीव पर्याय में नर और मादा इन दो के अस्तित्व के बिना नपुंसक वेद का सम्भाव नहीं हो सकता। अतः वृक्ष कीट आदिक में इतर दो वेदों का अभाव कहकर केवल नपुंसक वेद का कथन सर्वज्ञोदित नहीं। आधुनिक प्राणिशास्त्र के प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी इन पर्यायों में नर और मादा के युगलों का होना सिद्ध है।

अब हम पाठकों के विचारार्थ गोम्मटसार की वह गाथा रखते हैं जिसमें द्रव्य और भाव वेदों का लक्षण है। यह गाथा जीवकाण्ड वेद मार्गणाधिकार में है जो २७० वीं गाथा से प्रारम्भ होकर २८० पर समाप्त होता है।

पुरि सिच्छि संढ वेदो दयेण पुरि सिच्छि संढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाराए समा कहिं विसमा ॥ २७० ॥
पुरुष स्त्री षण्ढ वेदो दयेन पुरुष स्त्री षण्ढाः भावे।
नामोदयेन द्रव्ये प्रायेण समाः क्वचिद् विषमाः ॥

अर्थ—पुरुष स्त्री और नपुंसक वेद कर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव स्त्री, भाव नपुंसक होता है और नाम कर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री; द्रव्य नपुंसक होता है। ये प्रायः करके समान और कहीं २ विषम होते हैं, अर्थात् प्रायः करके तो जो द्रव्यवेद वही भाववेद, और जो भाववेद वही द्रव्यवेद, परन्तु कहीं २ ऐसी विषमता भी होजाती है कि भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा।

जो कुछ चर्चा वेदों के विषय में हम ऊपर कर चुके हैं और निष्कर्षसार लिख चुके हैं उनसे इस गाथाभिप्रेत मत का सौकर्य से विवेचन होता है। पाठक यहां गौर करें कि वेदकर्म तो आचार्य महाराज ने भी उसी को माना है जो मोहनीयान्तर्गत है और

जिससे मैथुनेच्छा होती है । नाम कर्म में कोई अवान्तर वेदकर्म प्रकृति नहीं कही गई है । ऐसा क्यों नहीं होता इसका कारण हम नपुंसकत्व के सम्बन्ध में दिखला चुके हैं और हम कई उदारणों से यह भी विशद कर चुके हैं कि जैन दर्शनानुसार नो-कषाय वेद कर्मोत्पादित मैथुनेच्छा रूप वेद का नाम कर्मजनितगुह्यांग और शरीर से द्रव्यत्व भावत्व का सम्बन्ध नहीं है किन्तु शरीर और उपांग वेद प्रकृति के फल देने में सहायक लक्षण नो-कर्म द्रव्यकर्म हैं । स्वयं आचार्य महाराज ने कर्म काण्ड में ऐसा कथन किया ही है कि स्त्री वेद का नो-कर्म स्त्री का शरीर, पुरुष वेद का नोकर्म पुरुष का शरीर और षराढ वेद का नो-कर्म द्रव्यकर्म नपुंसक का शरीर है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रीवेद का नो-कर्म पुरुष का शरीर नहीं होता, न स्त्री का शरीर पुरुष वेद का नो-कर्म होता, ऐसे ही नपुंसक शरीर (स्त्री वा पुरुष का विकल देह) भी केवल स्त्री वा पुरुष वेद का नो-कर्म नहीं होता । अतएव 'पाराण समा कहिं विसमा' पद की योजना किसी मत विशेष से की गई है, प्राचीन सर्वमान्य सिद्धान्त से नहीं और यह योजना कर्मकाण्ड के नो-कर्म द्रव्यकर्म कथन से सर्वथा विपरीत है । इस योजना में आचार्य स्ववचन बाधित हैं । पाठकों को यह भी ज्ञात रहे कि इस उपरोक्त गाथा के सिवाय ग्रन्थ भरमें कहीं भी द्रव्य और भाववेदों को पृथक् करके गुणस्थान, उदयोदीरण, सत्वबन्ध आदि का कथन नहीं है, जिससे इस भेदी कारण का अप्राकृतिक और अप्रयोजन भूत होना स्वयं सिद्ध है। टीकाकारों ने अपनी तरफ़ से स्वमतपोषणार्थ यत्र तत्र द्रव्य और भाववेद की अपेक्षा दिखलाई है सही परन्तु मूल गाथाओं में इस भेद का लक्ष्य करके किसी भी विषय का वर्णन नहीं है । तदुपरान्त टीकाकारों के वचनों में भी विषम वेदों का स्पष्ट वर्णन नहीं है । इसको हम आगे खोलेंगे ।

इस गाथा के मतानुसार स्त्री पुरुष नपुंसकों के भाववेद

(मैथुनेच्छा) और द्रव्यवेद (गुह्यांग) की समता और विषमता मानें तो वेदापेच्छा ६ प्रकार के भङ्ग होते हैं:-भावपुरुष द्रव्य पुरुष १ भावपुरुष द्रव्य स्त्री २ भावपुरुष द्रव्य नपुंसक ३ भाव स्त्री द्रव्य स्त्री ४ भाव स्त्री द्रव्यपुरुष ५ भावस्त्री द्रव्य नपुंसक ६ भाव नपुंसक द्रव्य नपुंसक ७ भाव नपुंसक द्रव्यपुरुष ८ भावनपुंसक द्रव्य स्त्री ९ इन भंगों में ३ सम हैं और शेष छः विषम हैं। इन विषम भंगों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क और शङ्कायें होती हैं जिनका समाधान और उत्तर ग्रन्थ भरमें नहीं मिलता:-(क) किसी भी विवक्षित भंग जैसे भाव स्त्री द्रव्यपुरुष में स्त्री वेद प्रकृति को फल देने में सहायक नोकर्म द्रव्य कर्म, द्रव्यपुरुष होगा अथवा और कुछ। यदि द्रव्य पुरुष अर्थात पुरुष का उपस्थ, स्त्रीवेद प्रकृति यानी पुरुष से मैथुनेच्छा का नोकर्म होता है। तो भावपुरुष द्रव्यपुरुष भंग में पुरुषवेद प्रकृति यानी स्त्री से रमणेच्छा का भी वही द्रव्य पुरुष नोकर्म होता है। इससे स्त्री से रमणेच्छा और पुरुष से रमणेच्छा दोनों परस्पर विरोधी इच्छाओं का नो कर्म द्रव्य पुरुष ही माना जयगा। जो सर्वथा न्याय सिद्धान्त और वस्तु स्वभाव के विरुद्ध है। इसके अलावा भावस्त्री द्रव्य स्त्री में पुरुष से रमणेच्छा का नो कर्म स्त्री का शरीर और गुह्यांग है। अतः स्त्री वेदप्रकृति का नो कर्म पुरुष का शरीर और स्त्री का शरीर दोनों ही कहे जायगे। यह प्रकृति-विरुद्ध एवं सिद्धान्त से विपरीत प्रतिपादन बाल बुद्धि भी स्वीकार नहीं करेगा। (ख) वेदोदय तो निरन्तर ही रहता है तदनुसार भाव स्त्री-द्रव्य पुरुष वेदी जीव जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पुरुष से मैथुन की इच्छा रखनेवाला भाव स्त्री वेदी ही रहता है अथवा अपने द्रव्य के अनुकूल भावपुरुष भी होजाता है, अर्थात् उसको कभी स्त्री से भी रमण की इच्छा होती है क्या? यदि ऐसा परिवर्त्तन होता है तो इन विषम वेदों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कितनी है तथा इनके उदयोदीरण

के परिवर्त्तन में वाह्यान्तर कारण क्या हैं। (ग) द्रव्यवेद और भाववेद का बन्ध समरूप ही होता है कि विषमरूप और युगपत् होता है कि भिन्न २ समय में, जब उदय में विषमरूप माना जायगा तो बन्धमें भी विषम रूप होना चाहिये, और ऐसी दशा में एक ही समय में भिन्न २ वेदों के भिन्न २ आस्रव कैसे सम्भव हो सकते हैं आस्रव और बन्ध के प्रत्यक्ष तथा अकाट्य नियमों से विषमवेद किसी तरह भी सिद्ध नहीं होते। (घ) भाव-स्त्री-द्रव्य-पुरुष वेद के उदय में जीव की यही इच्छा होनी चाहिये कि वह स्वयं स्त्री होजाय और भावपुरुष-द्रव्यपुरुष से रमण करे, अर्थात् वह अपने द्रव्यपुरुष वेद की जगह द्रव्य स्त्री (स्त्रीगुह्यांग) का अभिलाषी होता है इसके विना वह अपनी इच्छा पूर्ति नहीं कर सकता। स्यात् यह भी अभिप्राय हो कि वह जीव कुस्त्रियों की तरह हाव भाव कटाक्ष कुचेष्टा करके पुरुषों से अप्राकृत मैथुन का इच्छुक हो।

इन विषम भावों का अभिप्राय क्या है और ये छः प्रकार के विषमवेदी जीव अपने द्रव्य से विपरीत भाव रूप इच्छाओं को किस तरह और किन साधनों से पूर्ण कर सकते हैं अथवा अशक्यानुष्ठान समझकर यावज्जीवन अमैथुनी रहते हैं। इन बातों का ब्यौरा न ग्रन्थकर्त्ता आचार्य ने कहीं दिया और न किसी टीकाकार ने ही खोला।

पाठक खुद विचार सकते हैं कि समवेदी जैसे भावस्त्री द्रव्यस्त्री और विषमवेदी जैसे भावस्त्री द्रव्यपुरुष अपने २ परिणामों में अभेद समान नहीं हो सकते; विषमवेदी को अपने द्रव्यवेद से विपरीत रमणे[illegible]ा होना जरूर २ खटकेगा, और उसके वैपरीत्य भाव [illegible]ोई [illegible] कारण भी अवश्य होगा जिससे उसके हृदय में अपने द्रव्य[illegible] अनुकूल स्त्री से रमणेच्छा के भाव नहीं होते किन्तु [illegible]तकूल वह अपने को स्त्री बनाकर पुरुष से मैथुन की इच्छा

करता है भावस्त्री द्रव्यस्त्री के मुकाबिले में भावस्त्री द्रव्यपुरुष जीव महा न् पतित और कलुषित परिणामों का होगा एवं अन्तःकरण में जरूर तिरस्कृत तथा कलुषित होगा। परन्तु यह बात भावस्त्री द्रव्यस्त्री में कभी नहीं होगी; वह जीव अपने विषमवेदी से सांख्यगुणित उज्ज्वलचित्त होगा और प्रकृति-विरुद्ध परिणामी न होने के कारण उसके अन्ताकरण में न कोई खटका होगा न तिरस्कार। इसके अलावा भावस्त्री द्रव्यपुरुष में मैथुनेच्छा की तीव्रता कितनी होनी चाहिये इसका भी अन्दाज़ा पाठक करें; समवेदी स्त्री से असीम गर्हित विलासेच्छा वाला जीव भावस्त्री-द्रव्यपुरुष होगा। यदि यह कहा जाय कि द्रव्यत्व न होने के कारण उसमें मैथुनेच्छा की तीव्रता नहीं हो सकती तो भ्रम है, क्योंकि मैथुनेच्छा की तीव्रता के बिना वह पुरुषत्व भाव से च्युत होकर स्त्रीत्व में गिरे ही गा क्यों। नपुंसक वेदी को छोड़कर शेष दोनों वेदों के जीव तीव्र मैथुनेच्छु और कलुषित हुये बिना विषमवेदी नहीं हो सकते। पुरुष स्त्री नपुंसक के वेदरूप परिणामों का अन्दाज़ा आचार्यों ने यथाक्रम तृणाग्नि, कारीषाग्नि और भट्टे में पकती हुई ईटकी आग के दृष्टान्त से कराया है, तदनुसार भावस्त्री द्रव्यपुरुष में कारीष का परिमाण तो उन को भी मानना होगा जो ऐसे विषम वेदी को भावस्त्री द्रव्यस्त्री से निकृष्ट परिणामी नहीं समझते। अगर द्रव्य के अभाव में इस दृष्टान्त को भी लागू न करावें तथापि उसको समवेदी पुरुष से च्युत और अधः श्रेणीगत तो अवश्य ही कहेंगे और समवेदी स्त्री के समान नहीं तो उसके सदृश होने से भी इनकार नहीं कर सकते।

इन विषमवेदों में मैथुनेच्छा के मन्द और तीव्र उदयोदीरणा की अपेक्षा से एक पैमाने की कल्पना करें तो उत्तरोत्तर वृद्धिगत तीव्र के स्केल में भावपुरुष द्रव्यनपुंसक, भावस्त्री द्रव्यनपुंसक, भावपुरुष द्रव्यस्त्री, भावनपुंसक द्रव्यस्त्री, भावस्त्री द्रव्यपुरुष और भावनपुंसक द्रव्यपुरुष क्रम पूर्वक रक्खे जायँगे, जिससे प्रगट है कि विषमवेदी होनेसे नपुंसक की आत्मा मैथुनेच्छा पूर्तिके एक निश्चित साधन पर स्थिर होती है और वह भावोज्ज्वलता में चढ़ता है ए-

रन्तु विषमवेदी पुरुष तो अत्यन्त ही कुत्सित तथा अधःस्थिति के परिणामों में गिरकर अवनत एवं अधान्वित होता है। पाठक इनको स्मरण रक्खें; और खुद ही विचार कर कहें कि भाव स्त्री द्रव्य पुरुष भाव नपुंसक द्रव्य पुरुष मोक्ष के अधिकारी हैं अथवा इनके समवेदी स्त्री नपुंसक।

अस्तु जब वेदों की समता विषमता से जीवोंकी परिणति में इतना रात दिन का सा फरक होता है तो फिर प्रथमानुयोग की कथाओं में भी ऐसे भङ्गों के व्यक्तिगत उदाहरण तथा चरणानुयोग के चारित्रक्रम में इनके वर्णन और त्याग के उपदेश जरूर मिलने चाहिये थे; परन्तु ऐसा कोई भी पुराण और शास्त्र अद्यावधि देखने में नहीं आया। तदुपरि करुणानुयोग में तो इनके सम्बन्ध से कई प्ररूपणाओं का स्पष्टीकरण अनिवार्य्य था। परन्तु जैसा हम आगे दिखलावेंगे, गोम्मटसार में भाव और द्रव्य की समता वा विषमता के लक्ष्य से किसी की प्ररूपणा का वर्णन नहीं किया गया; उल्लिखित गाथा के सिवाय विषमवेदों की चर्चा का कहीं आभास भी नहीं। चहुंओर दृष्टि डालने से यही मालूम होता है कि 'पाराण समा कहिं विसमा' पुरातन नहीं किन्तु अर्वाचीन मत है और गुणस्थानादिक प्ररूपणाओं में यह समाविष्ट न होसका।

हम पाठकों के सामने अब उन गाथाओं को रखते हैं जिन से जाहिर होगा कि यदि आचार्य्य को द्रव्य और भाव वेदों के वैपरीत्य होने का नियम जीव–कर्मज्ञान में सार–भूत इष्ट होता अथवा वस्तुतः गुणस्थानादि में वे इसको कार्य्यकर समझते तो निम्नलिखित गाथा वर्णित विषयों में इसकी कभी भी उपेक्षा न करते।

(१) जीवकाण्ड, जीव समासाधिकार में गति की अपेक्षा वेदों का नियम इस प्रकार है:-"णेरइया खलु संढा णर तिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा। संढा सुरभोग भुमा पुरि सिच्छी वेदगा चेव॥९३॥ नैरयिकाः खलु षण्ढा नर तिरश्चोस्त्रयो भवन्ति सम्मूर्च्छाः, षण्ढाः सुर भोग भूमाः पुरुष स्त्री वेदका श्चैव॥" अर्थ—नारकी जीव निश्चय से नपुंसक; मनुष्य तिर्यंच तीनों ही अर्थात् पुरुष, स्त्री

और नपुंसक, सम्मूर्छन जीव नपुंसक, देव और भोग भूमिया पुरुष और स्त्री वेद वाले होते हैं। इस से विशेष इस गाथा का अर्थ कुछ भी नहीं होसकता, इस के पहिले ६२ वीं गाथा से भी कुछ अनुवर्तनीय नहीं है उस में लब्ध्य पर्याप्तकों की उत्पत्तिस्थानों का वर्णन है। टीकाकारों ने इस में स्वाम्नाय मत की योजना इस तरह से की है:—(मन्द प्रबोधिका) नैरयिकाः खलु—नियमेन पण्ढा एव—द्रव्यतो भावतश्च नपुंसक वेदा एव। नर तिर्यक्षु त्रयोऽपि वेदाः सन्ति द्रव्यतो भावतश्च स्त्रियः पुमांसः नपुंसकानि च भवन्ति इत्यर्थः सम्मूर्छिनो द्रव्य भावतः पण्ढा एव भवन्ति। सुर भोग भूमि भवाश्च द्रव्य भावतः स्त्री पुंस वेदा एव भवन्ति। अर्थ—नारकी नियम से नपुंसक ही अर्थात् द्रव्य और भाव से नपुंसक वेदी ही होते हैं, मनुष्य तिर्यचों में तीनों ही वेद होते हैं, द्रव्य से और भाव से स्त्री पुरुष नपुंसक होते हैं, इस का यह अर्थ है। सम्मूर्छन द्रव्यभाव से नपुंसक ही होते हैं। सुर और भोग—भूमि में उत्पन्न यानी भोग—भूमिया द्रव्यभाव से स्त्री पुरुष वेदी ही होते हैं।

टीकाकार मूलके उपरान्त क्या लिख सकते हैं और उनका किया हुआ विस्तार मूल ग्रन्थकर्त्ता का भावाशय कहां तक समझा जाय इस विषय को यहां न उठाकर हम सिर्फ इतना ही कहेंगे कि कि मूल गाथा में द्रव्य और भाव का सङ्केतमात्र भी नहीं है। टीका में द्रव्य और भाववेदकी योजनाकीगई हैसही लेकिन कौन २ से जीव विषमवेदी होते हैं इसका खुलासा न होने से दोनों प्रकारके वेदों का भिन्न २ उदय होना प्रकट नहीं होता। हमारी समझ में नहीं आता कि आधुनिक पण्डितों ने इस मूल और टीका से यह अर्थ किस तरह निकाल लिया कि "देव, नारकी, भोग भूमिया और सम्मूर्छन भाव के जो द्रव्य होता है वही भाववेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यञ्चों में यह नियम नहीं है, उन के द्रव्यवेद और भाववेद में विपरीतता भी पाई जाती है," । द्रव्य और भाव रूप से

तीनों वेदों का द्विरूप होना तो टीका के शब्दों से स्पष्ट है परन्तु अमुक २ प्रकार के जीवों में द्रव्य और भाव की विपरीतता होती है और अमुक में नहीं, इस की सूचना इस टीका से नाममात्र को भी नहीं होती, किन्तु इस से तो उलटा यह अर्थ निकलता है कि जिन २ जीवों का गाथा में निर्देश किया गया है उनके द्रव्यवेद और भाववेद समान ही होता है। टीका के शब्दों का तो स्पष्ट यह भावार्थ है कि द्रव्य और भाव द्विरूप से स्त्री पुरुष और नपुंसक तीन वेद होते हैं जिन में द्रव्य और भाव दोनों ही रूपों से नारकी तथा सम्मूर्छनों में तो केवल १ वेद यानी नपुंसक ही होता है, देव और भोगभूमियां में द्रव्यभाव से दो वेद अर्थात् स्त्री पुरुष और मनुष्य तिर्यंचों में द्रव्यभाव से स्त्री पुरुष नपुंसक तीनों वेद होते हैं द्रव्य और भाव से एक वेद (नपुंसक), दो वेद (स्त्री पुरुष), और तीन वेद (स्त्री पुरुषनपुंसक) किन २ जीवों में होते हैं, इसी का कथन टीका में है। हमारे वाचक शब्द विन्यास पर विचार करें। "नैरयिका द्रव्यतो भावतश्च नपुंसक वेदा एव–सम्मूर्छिनो द्रव्य-भावतःषंढाएव–सुरा भोगभूमि भवाश्च द्रव्यभावतः स्त्री पुंसक वेदा एव," इनमें एव अव्यय वाक्यान्त में शेषेतर वेदों के निषेध-द्योतनार्थ है। विशदरूप में ये वाक्य ऐसे पढ़े जायगे–"नैरयिका द्रव्य तो भावतश्च नपुंसक वेदा एव नतु स्त्री पुंस वेदाः" (नारकी द्रव्य और भाव से नपुंसक वेदी ही हैं नकि स्त्री पुरुषवेदी); 'सम्मूर्छनो द्रव्य भावतः षण्ढा एव नतु स्त्री पुंसवेदाः' (सम्मूर्छन द्रव्यभाव से नपुंसक वेदी ही होते हैं स्त्री पुरुष वेदी नहीं) 'सुर भोग भूमि भवाश्च द्रव्य भावतः स्त्री पुंस वेदा एवनतु नपुंसक वेदाः' (देव और भोगभूमिया द्रव्यभाव से स्त्री पुरुष वेदी हैं। नपुंसकवेदी नहीं) इसी अर्थ सम्बन्ध को लेकर "नर तिर्यक्षु त्रयोऽपि···इत्यर्थः," वाक्य है। इसमें नैरयिक, सम्मूर्छन और सुर भोगभूमि भावों से वेद विशेषता दिखाने के अर्थ अपि अव्यय रक्खा गया है अर्थात् मनुष्यों

में तो द्रव्यभाव से तीनों ही स्त्री पुरुष नपुंसक होते हैं। निषेध द्योतक 'एव' और विशेषता द्योतक 'अपि' दोनों ही अव्यय स्त्री पुरुष नपुंसक वेदों की अपेक्षा से हैं, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से नहीं। निर्दिष्ट जीवों के नियत लिङ्गोंके साथ उन लिङ्गोंके उभय रूप लक्षणात्मक 'द्रव्यभावतः' पद सर्व ही वाक्यों में समानता सूचनार्थ योजित किया है न कि विशेषता द्योतनार्थ। इस पद से यह सूचित किया गया है कि जो द्रव्य भावरूप नपुंसक वेद नारकी और सम्मूर्छनों में होता है और जो द्रव्य भावरूप स्त्री पुरुषवेद सुर तथा भोग-भूमियों में होते हैं वे ही द्रव्य भावरूप स्त्री पुरुषनपुंसकवेद मनुष्य तिर्यंचों में होते हैं। अर्थात् नारकी सम्मूर्छनों के नपुंसक और मनुष्य तिर्यंचों के नपुंसकों में तथा सुर, भोगभूमिया स्त्री पुरुषों और मनुष्य तिर्यंचों के स्त्री पुरुषों में द्रव्य भाव से समानता है, विशेषता कुछ नहीं है विशेषता और असमानता तो केवल लिङ्गोंकी है जिस के लिये 'एव' और 'अपि' अव्यय उपयुक्त किये गये हैं। नर तिर्यक्षु···इत्यर्थः' से यदि यह भावार्थ लिया जाय कि मनुष्य तिर्यञ्चों में स्त्री पुरुष नपुंसकवेद त्रिकसम और विषमरूप से होता है तो सुर तथा भोगभूमियों में स्त्री पुरुष वेदद्विक के सम और विषम होने का आशय 'सुर भोगभूमि भवाश्च········एव' से क्यों न लिया जाय, इस के विरुद्ध क्या दलील है। शब्दोंके उपरान्त कल्पना दोनों वाक्यों में होनी चाहिये, एक ही में क्यों चाहे आधुनिक पण्डित अपनी मनमानी कल्पना कुछ ही करें परन्तु जैन समाज कमल दिवाकर श्रीमद्विद्वद्वर पण्डित टोडरमल जी ने निज रचित सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामक टीका में विपरीत वेदों की कौन कहे द्रव्य और भाववेद तक का भी जिक्र नहीं किया; प्रत्युत जैसा मूलगाथा के शब्दों से अर्थ निकलता है उसी को यथार्थ स्वपर कल्पना रहित लिखा है। विवेकी वांचकवृन्द उससे खुद समझ लेंगे कि भाववेद और द्रव्यवेद का विषमत्व यदि जीव-कर्म ज्ञान में प्रयोजन भूत और

युक्तिसङ्गत था तो दिगम्बराम्नाय के अप्रतिभ धुरन्धुर पण्डित टोडरमलजी ने इसकी उपेक्षा क्यों की। सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका में इस गाथा की टीका यह है:—"नारकी सर्व ही नियम करि षण्ढाः कहिये नपुंसक वेदी ही हैं। बहुरि मनुष्य तिर्यञ्चनि नियम स्त्री पुरुष नपुंसक भेदरूप तीनों वेद हैं। बहुरि सम्मूर्छन तिर्यञ्च अर मनुष्य सर्व नपुंसक वेदी ही हैं। बहुरि देव अर भोग-भूमियाँ तो पुरुष वेद स्त्रीवेद का उदय संयुक्त नियम करि हैं तहां नपुंसक न पाइये हैं।"

जिस गाथा में जीवों के वेदों का नियम किया है उसी में जब सम और विषम वेद का भेद नहीं है और एकही आम्नाय के टीकाकार जब स्वमताभिप्राय की योजना में एकीभूत नहीं हैं तो ऐसी दशा में पाठक अपने आप देखलें कि 'पाराण समाः क्वचिद् विसमा' पद में क्या सार है।

(२) जीवकाण्ड, गति मार्गणा अधिकार में तिर्यञ्च तथा मनुष्यों के भेद इस प्रकार दर्शाये गये हैं:—सामण्णा पञ्चिन्दी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता। तिरिया णरा तहा वि य पञ्चिन्दि भङ्गदो हीणा।१४६॥ सामान्याः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः योनिमत्यः अपर्याप्ताः तिर्यञ्चो नारास्तथापि च पञ्चेन्द्रिय भङ्गतो हीनाः॥

अर्थ—तिर्यंचों के पाँच भेद हैं, सामान्य तिर्यंच १ पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच २ पर्याप्त तिर्यंच ३ योनिमती तिर्यंच ४ अपर्याप्त तिर्यंच ५ इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय के भङ्ग को छोड़कर मनुष्य भी ४ प्रकार के होते हैं, सामान्यपुरुष १ पर्याप्तमनुष्य २ योनिमती मनुष्य ३ अपर्याप्त मनुष्य ४।

मानुषी तथा अपर्याप्त मनुष्यों की संख्या सूचक गाथा यह है:—

पज्जत्त मणुस्साणं तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं।
सामण्णा पुण्णूणा मणुवअपज्जत्तगा होंति॥१५८॥

पर्याप्त मनुष्याणां त्रिचतुर्थो मानुषीणां परिमाणम् ।
सामान्याः पूर्णोना मानवा अपर्याप्तका भवन्ति ॥ १५६ ॥

अर्थ—पर्याप्त मनुष्यों का जितना प्रमाण है उसमें $\frac{3}{4}$ मानुषियों का प्रमाण है । सामान्य मनुष्य राशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण है।

गृहस्थ मुनि, शतावधानी श्रीमान् रायचन्द्रजी द्वारा स्थापित परमश्रुत प्रभावक मण्डल की तरफ से गोम्मटसार का जो जीव-कांड प्रकाशित हुआ है उसके पृष्ठ २६५ के फुट नोट में आलापा-धिकार गाथा ७१३ के सम्बन्ध में टीकाकार महाशय ने यह प्रकट किया है कि जीवकाण्ड में जीव के भावों की प्रधानता से वर्णन है उन्होंने वहां योनिमती शब्द से भावस्त्री का अर्थ लिया है । उनकी व्याख्यानुसार इन गाथाओं में यदि योनिमती शब्द से भाव स्त्री का अर्थ लें तो योनिमती मनुष्यों की संख्या के प्रमाण में भाव स्त्री द्रव्य पुरुष, भावस्त्री द्रव्य नपुंसक और भावस्त्री द्रव्यस्त्री मनुष्य परिगणित होंगे और इसी तरह से पर्याप्त मनुष्यों की संख्या में से $\frac{3}{4}$ पूर्वोल्लिखित मानुषियों का प्रमाण निकाल लेने से $\frac{1}{4}$ जो शेष संख्या रही उसमें भाव पुरुष द्रव्यस्त्री और भावनपुंसक द्रव्यस्त्री भी शामिल किये जावेंगे । जिससे योनिमती मनुष्य संख्या में अयोनिमती तथा अयोनमत् संख्या में योनिमत विषम-वेदियों के संमिश्रण की गड़बड़ी होती है और शुद्ध अर्थत् समवेदी योनिमती और अयोनिमत् मनुष्यों की संख्या का प्रमाण इस ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलेगा परन्तु इन गाथाओं के प्रकरण और उनकी टीकाओं से निस्सन्देह यह विदित होता है कि उक्त बालबोध टीकाकार का कथन मूल ग्रन्थकर्त्ता के उद्दिष्ट विषय से सर्वथा प्रतिकूल है। देखियेः—बहुरि जो स्त्री वेदरूप तिर्यञ्चणी सो योनिमती तिर्यञ्च है स्त्रीवेदरूप मनुष्यणी सो योनिमती मनुष्य। (सं.चं.) पर्याप्त मनुष्य राशेः त्रिचतुर्भागो मानुषीणां द्रव्यस्त्रीणां परिमाणं भवति । (मन्द प्र०)

इन टीकाओं के शब्दों में साफ २ कह दिया गया है कि जीवकांड में भावकी प्रधानता से कथन नहीं है किन्तु द्रव्य से है क्योंकि योनिमती शब्द का अर्थ ये टीकाकार द्रव्यस्त्री लेते हैं। हमारे पाठक भी देख लें कि मूल गाथाओं में द्रव्य वा भाव का संकेत-मात्र भी निर्देश नहीं है और एक ही आम्नाय के टीकाकार उन्हीं से कोई भावस्त्री और कोई द्रव्यस्त्री का अर्थ लेते हैं।

परन्तु यथार्थ में भाव और द्रव्य का भेद यहाँ पर निरर्थक है। इस ग्रन्थ में 'योनिमती' शब्द, इसके अन्य पर्यायवाची मानुषी, मानुष्यी, मानुषिणी मनुषिणी इन शब्दों की तरह प्रयुक्त हुआ है। इन शब्दोंमें कुछ विशेषार्थ हैं चतुर्गति की अनन्त समष्टि को दार्शनिकों ने दो ही राशि में विभक्त किया है। प्राकृति में नर और मादा इन दो जिन्सों का जोड़ा गति कर्म्माश्रित होता है और गति कर्म ही की अपेक्षा से मनुष्यत्व धर्म-धारी देही अभेदरूप से मनुष्य संज्ञक होते हैं। पुरुष और स्त्री शब्द मनुष्यों के व्यवहार बोधक हैं और गति विशेष से ही सम्बन्ध रखते हैं, तदुपरि इनके साथ नपुंसक शब्द और जुड़ा हुआ रहता है जिसका विचार नर मादासे भिन्न गति धर्माश्रित नहीं किया जाता। इस लिये समष्टिगत नर और मादा की पर्याय के अर्थ बोधन के लिये ये दोनों शब्द काफ़ी नहीं होते। तदनुसार उसी समष्टि दृष्टि से मनुष्य संज्ञक देहधारियों के नर और मादा युगल के लिये पुरुष-मनुष्य और स्त्री मनुष्य शब्दों का व्यवहार न करके सामान्य मनुष्य योनिमती मनुष्य आदि शब्द रचे गये हैं इसी तरह तिर्यञ्च तिर्यंचनी योनिमती तिर्यंच शब्द हैं। अतः इन शब्दों में न भाववेद की प्रधानता है न द्रव्य वेद की और न किसी का गौणत्व। अर्थात् द्रव्य और भाववेद की भेद-दृष्टि से इन गाथाओं में मनुष्य तिर्यंचों के भेद तथा उनकी संख्या का निरूपण नहीं है।

(३) जीवकाण्ड वेदमार्गणा अधिकार में पुरुष, स्त्री और नपुंसक तीनों वेदों का निरूपण इस तरह किया है:—

पुरुगुण भोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरु गुणं कम्मं।
पुरु उत्तमोय जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥२७२॥

अर्थ—उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का जो स्वामी हो अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करे, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं।

छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं विदोसेण।
छादण सीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥ २७३ ॥

अर्थ—जो मिथ्या दर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करे और मृदु भाषण तिरछी चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे। उसको अच्छादन-स्वभावयुक्त होने से स्त्री कहते हैं।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहय लिङ्गविदिरित्तो।
इट्टावग्गि समाणग वेदण गरुओ कलुसचित्तो ॥ २७४ ॥

जो न स्त्री हो न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिङ्गों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसकी अवा में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रति समय कलुषित रहता है।

इन लक्षणों में भाव और द्रव्यवेद के भेद की झलक तक नहीं पड़ती और न इनमें द्रव्य से पृथक् भाववेद का स्वरूप मालूम होता। श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित जीवकाण्ड की विषय सूची में इन गाथाओं का विषय "भाववेद के तीनों भेदों का स्वरूप;, ऐसा लिखा है। मालूम होता है कि उक्त सूची निर्माता टीकाकार ने इसका क़तई विचार नहीं किया कि गाथाओं में वर्णित स्वरूप यदि द्रव्य से पृथक् केवल भाव स्त्री पुरुष नपुंसकों ही के माने जायंगे तो द्रव्य और भाव की एकता रखने वाले स्त्री पुरुषों का स्वरूप क्या कहा जायगा और आचार्य महाराज ने उनका वर्णन क्यों नहीं किया? समवेदों का कथन किसी तरह भी उपे-

क्षाई नहीं है। क्यों कि समान वेदी जीवों की संख्या के मुकाबले में सिर्फ भाववेदी अर्थात् द्रव्य से भिन्न भाववेद वालों की गणना संख्यातांश भी कल्पना में नहीं आती इसके अतिरिक्त स्थूल बुद्धि में भी यह बात नहीं समावेगी। कि सिर्फ भाववेद के उदयोदीरण से ही स्त्रियों में पुरुषों के और पुरुषों में स्त्रियों के गुण व्यवहार प्रकट हो जायंगे और वे अपने २ शरीर प्राप्त प्राकृतिक मैथुनेच्छाओं के प्रतिकूल प्रवर्तेंगे। पण्डित टोडर मल जी ने जो विषय सूची लिखी है उसके अनुसार इन गाथाओं में निरुक्त सहित तीनों वेदों के लक्षण हैं द्रव्य और भाव के भेद विचार का इनमें लेश भी संश्लेष नहीं है।

(४) किस २ वेद में कितने गुणस्थान होते हैं इसका वर्णन जीवकाण्ड अन्तर्भावाधिकार गाथा ६८४ में इस विधि है:—

थावरकायप्पहुदी संढो सेसा असण्णि आदीय।
अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६८४॥
स्थावर काय प्रभृत्तिः षण्ढः शेषा असंज्ञ्यादयश्च।
अनिवृत्तेश्च प्रथमो भाग इति जिनैर्निर्दिष्टम्॥

अर्थ—स्थावर काय प्रभृत्ति नपुंसक और शेष असंज्ञी पंचेन्द्रियादिक स्त्री तथा पुरुष वेदी अनिवृत्त करण के प्रथम भाग तक होते हैं। इस तरह जिनेन्द्र ने कहा है।

इस गाथा के अनुसार स्त्री पुरुष, और नपुंसक तीनों वेदों में ९ गुणस्थान होते हैं और इन में द्रव्य और भाव वेदकी कोई भी कैद नहीं लगाई गई है। पाठकों को स्मरण होगा कि स्थावरकायी और विकलेन्द्रियादि सम्मूर्छन जीव ९३ वें गाथा में नियम से नपुंसक वेदी कहे गये हैं और वहां टीकाकारों ने निज मत से यह योजना की है कि उक्त प्रकार के जीव द्रव्य और भाव से नपुंसक अर्थात् समवेदी नपुंसक होते हैं। यहां पर भी अन्यत्रवत् ग्रन्थ कर्ता के शब्दों में द्रव्य और भाववेद के भेद की कुछ भी अपेक्षा नहीं है; जो

नपुंसक वेद स्थावरकाय प्रभृति जीवों में होता है उसी नपुंसक वेद को अभेद रूप से अनिवृत्ति करण गुणस्थान के प्रथम भाग तक बताया है। इसी तरह स्त्री और पुरुषवेदों को भी समझ लीजिये। यदि ग्रन्थ रचयिता को यह कथन अभीष्ट होता कि द्रव्य नपुंसक और द्रव्य स्त्री के पांच ही गुणस्थान होते हैं तो वे यहाँ इसको अवश्य साफ २ खोल देते कि "जिस प्रकार के स्त्री और नपुंसकवेदी पांच गुणस्थान पर्य्यन्त होते हैं उसी प्रकार के प्रमत्तादि में नहीं होते किन्तु उनसे भिन्न होते हैं; भावस्त्री द्रव्य पुरुष और भाव नपुंसक द्रव्यपुरुष के ही प्रमत्तादि गुणस्थान हो सकते हैं समवेदी स्त्री नपुंसकों के नहीं"। परन्तु इस तरह कुछ भी आशय जाहिर नहीं किया गया। इसीसे पाठक समझलें कि गुणस्थानों में भाव और द्रव्यवेद की अर्गला नहीं है।

(५) जीवकाण्ड आलापाधिकार में गाथा संख्या ७१३ के उत्तरार्द्ध में सामान्य, पर्याप्त और योनिमत् इन तीन प्रकार के मनुष्यों के १४ गुणस्थान होते हैं ऐसा लिखा है—

मूलोघं मणुसितिये मणुसिणि अयदम्हि पज्जत्तो।
मूलोघं मनुष्य त्रिके मानुष्ययते पर्याप्तः॥

अर्थ—मनुष्य के चार भेद हैं। सामान्य, पर्याप्त, योनिमत्, अपर्याप्त। इनमें से आदि के तीन मनुष्यों के चौदह गुणस्थान होते हैं और असंयत गुणस्थानवर्ती मानुषी पर्याप्त ही होती है। यहां पर योनिमत् और अयोनिमत् (सामान्य) दोनों ही प्रकार के मनुष्यों में १४ गुणस्थान होना साफ साफ दृष्टिगत है। परमश्रुत प्रभावक मण्डल के टीकाकार ने इस गाथार्द्ध के लिये जो यह फुटनोट दिया है:—"यहाँ यह शङ्का नहीं हो सकती कि योनिमत् मनुष्य के छठे आदि गुणस्थान किसतरह हो सकते हैं? क्योंकि जीवकाण्ड में जीव के भावों की प्रधानता से वर्णन है। अतएव यह भी भाववेद की अपेक्षा कथन है" इसका विवेचन हम (२) में कर चुके हैं यहां

इतना और जोड़ते हैं कि सामान्य अर्थात् अयोनिमत् मनुष्यों में पुरुष और नपुंसक सम्मिलित हैं इसलिये योनिमत् और अयोनिमत् दोनों ही की अपेक्षा से टीकाकार को शङ्का समाधान करना चाहिये था। यदि इस कथन को भाव प्रधानता से कहा जाता है तो द्रव्य प्रधानता से मनुष्य के चार भेदों में कितने गुणस्थान संभवते हैं, तथा द्रव्य योनिमत् में पाँच ही होते हैं इसका कथन आचार्य्य ने कहां किया है और नहीं किया-तो क्यों नहीं; इसका उत्तर टीकाकारों के पास मौनस्थ रहने के सिवाय क्या होगा सो मालूम नहीं। ग्रन्थ भर में कहीं भी यह कथन नहीं मिलता कि द्रव्य स्त्री वा नपुंसक के ५ ही गुणस्थान होते हैं। तद्व्यतिरिक्त गति मार्गणा के आश्रित, वेद भेद से गुणस्थानों की संख्या का ख़याल बांधना असम्बन्ध है कारण कि वेद की अपेक्षा से तो वेदमार्गणा में वर्णन होता है और वहां तीनों वेदों में ९ गुणस्थान की सम्भावना है १४ की नहीं। पाठक सूक्ष्म दृष्टि से विचारेंगे तो विदित होगा कि समष्टिगत मनुष्यत्व के अवलोकन में मैथुनेच्छारूप भाववेद का आभास तक ख़याल में नहीं आता किन्तु केवल जीव की नर और मादारूप आकृति का विचार आता है और यदि इसी विचार पर वेद भेद का लक्ष्य किया जावेगा तो द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थान कहने होंगे *।

गोम्मटसार की गाथाओं पर जो कुछ विवेचन हम कर चुके हैं उससे पाठक निम्नलिखित नतीजों पर पहुंचे होंगे ऐसी आशा है। (१) विषमवेद का इस ग्रन्थ में नाम मात्र उल्लेख है और समवेद से भिन्न कहीं भी इसके स्वरूप का वर्णन नहीं है और न समवेद से पृथक् करके गुणस्थानादि प्ररूपणाओं की चर्चा में इसका कोई स्थान है। यह मत विशेष करणानुयोग की कथनी में मिश्रित न होसका किन्तु निराधार असम्बन्ध खड़ा है। (२) स्त्री पुरुष न-

* आलापाधिकार के विषय में हम हमारे विशेष विचार आगे लिखेंगे।

पुंसक तीनों वेदों में ९ गुणस्थान होते हैं। और गति कर्माश्रित योनिमत् तथा अयोनिमत् दोनों ही प्रकार के मनुष्यों में १४ गुणस्थान होते हैं। (३) द्रव्यस्त्री के ५ ही गुणस्थान होते हैं इसका ग्रन्थ भर में ही ज़िक्र नहीं है। (४) मोहनीयान्तर्गत तीनों वेदों के लक्षणानुसार इन विषमवेदों का विचार करते हैं तो सम-वेदी स्त्री की अपेक्षा विषमवेदी भाव-स्त्री द्रव्य-पुरुष नितान्त ही पतित और कुत्सित परिणामी होगा।

अब हम उदयत्रिभङ्गी के आधार पर विचार करते हैं। प्ररूपणाओं के कथन में यह प्रमाण सिद्ध है कि ९ वें गुणस्थान अनिवृत्ति करण तक पुरुष स्त्री और नपुंसक तीनों वेद होते हैं तथा मनुष्यों के योनिमत् और अयोनिमत् दोनों ही प्रकारों में १४ गुणस्थानों की संभावना है। दिगम्बर मतानुयायी द्रव्यस्त्री और द्रव्य नपुंसक के केवल ५ ही गुणस्थान मानकर प्रमत्तादि गुणस्थानों में द्रव्य से तो पुरुष वेद कहते हैं और भाव से तीनों वेद अर्थात् पंचम गुणस्थान से आगे स्त्री और नपुंसक वेद की सिद्धि दिगम्बर मतानुसार उस पुरुषत्व च्युत मनुष्य से होती है जो विषम वेदी स्त्री या नपुंसक हो जो द्रव्य में तो पुरुष हो परन्तु भावों में स्त्री से रमणेच्छा की एवज पुरुष से रमण की इच्छा करे अथवा युगपत् स्त्री पुरुष दोनों से। परन्तु यह मत उदय त्रिभङ्गी से सर्वथा विपरीत और सिद्धान्त विरुद्ध है क्योंकि पर्याप्त मनुष्य के स्त्री वेद प्रकृति के उदय का निषेध है सामान्य मनुष्य के १०२ प्रकृतियां उदय योग्य हैं उनमें से स्त्री वेद और अपर्याप्ति ये दो कम करने से १०० प्रकृतियां पर्याप्त मनुष्य के उदय योग्य कही गई हैं जैसा कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड बन्धोदय सत्वाधिकार गाथा संख्या ३०० से प्रकट है।

> इगिविगलथावरचऊ तिरियापुणमणिय पीत्रं रामेव मणुस सामएणे।
> पज्जतेवि य इत्थी वेदाऽपज्जत्ति परि हीणो ॥ ३०० ॥

यहां पाठकों को निम्नलिखित बातें साफ़ २ समझ लेनी चाहिये जिससे कोई शङ्का न रहे।

१ गतिकर्म के आश्रित मनुष्यों के दो भेद हैं योनिमत् और अयोनिमत् (सामान्य)। उदय योग्य प्रकृतियां जीवमात्र की अपेक्षा १२२ हैं, इन में से मनुष्य के उदय योग्य उत्तर प्रकृतियां यथाक्रम ५+६+२+२८+१+५०+२+५ होती हैं, शेष २० का उदय मनुष्य के नहीं होता। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीनों प्रकृतियाँ मोहनीय के २८ भेदों में गर्भित हैं और पर्याप्त तथा अपर्याप्त दो प्रकृतियां नाम कर्म्म की ५० प्रकृतियों में शामिल हैं। सामान्य मनुष्यों में अभेदरूप से सर्व प्रकार के मनुष्य परिगणित होते हैं—योनिमत्, अयोनिमत्, पर्याप्त तथा अपर्याप्त। इस लिये उसके १०२ प्रकृतियों का उदय कहा गया। पर्याप्तसामान्य यानी अयोनिमत् के मोहनीय की २८ उदय योग्य प्रकृतियों में से स्त्रीवेद का उदय नहीं होगा क्योंकि अयोनिमत् या तो पुरुष होंगे या नपुंसक, इस कारण पर्याप्तमनुष्य के पुरुषवेद और नपुंसकवेद दोनों ही प्रकृतियों का उदय कहा गया तथा स्त्रीवेद और अपर्याप्ति ये दोनों कम करके १०० प्रकृतियां उदय के योग्य बतलाई गई हैं।

२ चूंकि सर्व साधारण में यही ख़याल समाया हुआ है कि मैथुन कर्मके अयोग्य विकृत गुह्यांग वाले जीव स्त्रियों में नहीं किन्तु पुरुषों में ही होते हैं, स्त्रियां तो सर्व मैथुनार्ह ही जन्मती हैं इसलिये जैन दार्शनिकों ने पर्याप्त मनुष्य में पुरुषवेद के सिवाय नपुंसकवेद भी उदय योग्य कहा है।

३ स्त्रीवेद प्रकृति जो मोहनीयान्तर्गत हैं और पर्याप्त मनुष्य में जिस के उदय का निषेध किया गया है इसी को दिगम्बराम्नाय में भाववेद कहा है और छठे गुणस्थान में तथा आगे इसी भाव स्त्री वेद का होना बतलाते हैं।

अब पाठक अपने आप नतीजा निकाल लैं कि जब पर्याप्त मनुष्य

में सिर्फ पुरुष और नपुंसक दो ही भाववेदों का उदय सिद्धान्तानुनुसार होता है और भाव स्त्रीवेद का सर्वथा निषेध है तो फिर प्रमत्तादि गुणस्थानों में भाव स्त्रीवेदी पुरुष कहां से आवेंगे। इसी तरह से मानुषी के भी पुरुषवेद और नपुंसकवेद का उदय वर्जित ने, "मणुसिणि पत्थी सहिदा तित्थयराहार पुरिस संढूणा" ३०१। उदयत्रिभङ्गी के अनुसार तो सीधा सादा यह प्राकृतिक नियम सिद्ध है कि न तो मनुष्य के स्त्रीवेद का उदय होता और न मानुषी के पुरुषवेद का, जो जैसे प्रकृति में है वैसे ही होते हैं, पुरुष में पुरुषत्वभाव रहता है और स्त्री में स्त्रीत्वः ऐसा नहीं होता कि पुरुष अपने स्वभाव विरुद्ध स्त्रीकी एवज़ पुरुष से रमणे की इच्छा करे अथवा पुरुष को छोड़कर स्त्रियां स्त्रियों ही से मैथुन कर्म की इच्छुक हों। अर्थात् उदयत्रिभङ्गी से विषमवेदों का होना किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता।

यहां ही पाठकों को यह भी स्पष्ट है कि मनुषिणी के किसी संहनन का निषेध नहीं है, छः ही संहनन उदय योग्य कहे गये हैं। यहां पर कोई भी ऐसा अपवाद सूत्र नहीं है कि कर्मभूमि की स्त्रियों के आदि के तीन संहनन नहीं होते, अन्त के तीन होते हैं। भोगभूमियों के लिये अन्त के पांच संहनन और संस्थानों के निषेध का अपवादरूप नियम गाथा संख्या ३०२ और ३०३ में मौजूद है। यदि कर्म—भूमि की महिलाओं के किसी भी संहनन का निषेध सर्वमान्य और पुरागत नियम होता तो उसका वर्णन यहां ही होता और उस की कभी भी उपेक्षा नहीं की जाती।

पाठकों को यह भी साफ़ होगया होगा कि इस उदयत्रिभङ्गीके स्थल पर 'भावों की प्रधानता से कथन है, ऐसी पक्ष को ज़रा भी गुञ्जायिश नहीं है। यदि मनुष्य और मनुष्यणी से भावपुरुष और भावस्त्री का अभिप्राय लेकर पक्ष उठाया जाय तो वह बालमति में भी हास्यस्पद होगा। क्योंकि इस पक्ष के मुताबिक़ इन गाथा

सूत्रों का यह आशय होजाता है कि भावपुरुष के भावस्त्री का और भावस्त्री के भावपुरुष का उदय नहीं होता, एवं भाव नपुंसक के भाव नपुंसक का उदय होता है और भावस्त्री के भावनपुंसक के उदय का अभाव है। परन्तु जिस २ समय में जिस २ वेद का भाव होता है उस समय दूसरे प्रकार का वेद उदय में नहीं आ सकता यह तो साधारण समझ की भी बात है और वेदमार्गणा में उदयादि के कथन का विषय है। जिस जीव के स्त्री से रमणे की इच्छा होगी अर्थात् जो पुरुषवेदी है उस के स्त्रीवेद और नपुंसकवेद हो ही नहीं सकते, इसी तरह स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी को समझिये कर्मकाण्ड की ३२० और ३२१ वीं गाथाओं में इसका वर्णन किया गया है। हम पाठकों से सानुरोध प्रार्थी हैं कि वे कर्मकाण्ड की २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३२०, ३२१ संख्यक गाथा सूत्रों को अवश्य पढ़ें और मनन करें।

वाचक वृन्द! जब भाव स्त्रीवेदी अयोनिमत् मनुष्य का होना तो उदयत्रिभङ्गी से सिद्ध नहीं होता और योनिमत् मनुष्य के १४ गुणस्थानों की सम्भावना वीस प्ररूपणाओं के कथन में स्पष्ट है तो ऐसी दशा में स्वयमेव यह सिद्धान्त निस्सन्देह युक्ति सिद्ध और आगम—सिद्धि प्रतीत होता है कि जिन पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीवों के ९ गुणस्थान होंगे अथवा जो मनुष्य मनुष्यिणी अपगत वेदावस्था को प्राप्त होकर पूज्य अर्हन्त केवली होंगे उन में द्रव्य और भाव की विपरीतता नहीं हो सकती; अर्थात् वे प्राकृतिक स्त्री पुरुष होंगे, जैसे उनके द्रव्य नोकर्म देहाङ्गोपाङ्ग होंगे वैसे ही उनके वेद होंगे। और जैसे उनके वेद होंगे वैसे ही उनके नोकर्म शरीरांगोपांग होंगे। दिगम्बराम्नाय वालों का जो यह मत है कि प्रमत्तादि गुण स्थानों में स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी वे ही जीव होते हैं जिनके नोकर्म्म शरीरांगोपांग तो पुरुषवेदी का हो और

मैथुनेच्छारूप भाव, स्त्री तथा नपुंसक के हों, इस मतका न तो कहीं सिद्धान्तसूत्रों में आधार है और न इसका कोई युक्ति-प्रमाण है, किन्तु सिद्धान्तसूत्र तो साफ २ इस मतके विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि न तो मनुष्य शरीर में स्त्रीवेद का उदय होता और न मनुष्यणी के देह में पुरुषवेद का। तात्पर्य्य यह है कि स्त्रीवेद का उदय स्त्रीनामाख्य देहधारी जीव के ही होता है और किसी के नहीं। अतएव जिसको दिगम्बराम्नाय के शब्दों में द्रव्यस्त्री कहते हैं ऐसे स्त्रीनामाख्य देहधारी जीवके वेदावस्था में ६ गुणस्थान और अपगत वेदावस्था में १४ गुणस्थान स्वीकार किये विना स्त्रीवेद में ९ गुणस्थानों तथा पर्याप्त मानुषी के १४ गुणस्थानों की सम्भावना, जैसी कि दोनों आम्नायों को निरपवाद मान्य है, दिगम्बरमती सिद्ध नहीं कर सकते।

हमने आलापाधिकार की गाथा ७१२ की पहिले आलोचना की है। इस अधिकार की सर्वाङ्ग आलोचना इस लेख के विषय से बाह्य है, परन्तु जिन विचारों का प्रकट करना प्रकृत विषय के मुताल्लिक़ है उनको हम संक्षेप से लिख देते हैं।

गोम्मटसार में विशेष करके संसारी जीव की पर्यायों और उनके सम्बन्धी कर्म की मूलोत्तर प्रकृतियों के बन्धोदय सत्व की कथनी है। जिसमें जीवकाण्ड में ग्रन्थकर्त्ता आचार्य्य ने गुणस्थान, जीवसमास; पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है क्योंकि ये प्ररूपणायें ही जीव की पर्यायें हैं। इनका वर्णन अन्तर्भाव सहित २१ अधिकारों की ७०४ गाथाओं में पूर्ण होचुका। इसके पीछे प्ररूपणाओं के विषय में तो कुछ शेष वक्तव्य था नहीं तथापि नवीन मङ्गलाचरणपूर्वक आलापाधिकार के कथन की प्रतिज्ञा की है। पाठक विचार करें कि 'आलाप' कोई तत्व वा पदार्थ का नाम नहीं है। किसी विषय के वर्णन करने रीति विशेष को आलाप

कहते हैं और विषय संख्या की अपेक्षा वे कई प्रकार के हो सकते हैं। गोम्मटसार के रचयिता ने आलाप के तीन भेद किये हैं वे आलाप के नहीं समझने चाहिये किन्तु पर्याप्ति विषयक आलाप के वे तीन प्रकार कहे जा सकते हैं। किया आचार्य ने भी ऐसा ही है, सामान्य, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे तीन भेद आलाप के बताकर उन्होंने उनमें गुणस्थान और मार्गणाओं की योजना लगाई है। अस्तु आलाप प्रकरण में कोई नवीन बात नहीं हो सकती, जो कुछ हो सकती है वह वही होगी जो पहिले क्रमबद्ध सिद्धान्तानुसार कही जा चुकी है। आलापाधिकार को पढ़ने से मालूम होता है कि पर्याप्त अधिकार और अन्तर्भावाधिकार के जो कुछ सिद्धान्त, नियम हैं उन्ही को आचार्य ने यहाँ एक विशेष कथन पद्धति से कहा है, परन्तु इसके साथ यह प्रकट होता है कि इस अधिकार में वे कुछ विशेष स्वेष्ट मतों को भी सर्वमान्य सिद्धान्तरूप में मिलाना चाहते थे जिनकी योजना का अवकाश पुरातन क्रम-बद्ध कथनी में नहीं पा सके। इसीलिये इस एक ही अधिकार में प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करके ७०६ से ७२६ गाथा तक गुणस्थान मार्गणाओं में पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंकी अपेक्षा से आलाप कह चुकने पर फिर ७२७वीं गाथा में दुबारा नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है और यह प्रतिज्ञा की है कि मैं उस सिद्धान्तालाप को कहूंगा जो वीर भगवान के मुख कमल से उपदिष्ट श्रुत में वर्णित समस्त पदार्थों के प्रकट करने में समर्थ है। इस मङ्गलाचरण के पश्चात् सिर्फ ५ ही गाथाओं में अधिकार खतम होजाता है और जीव काण्ड भी समाप्त है। हमको मालूम नहीं हुआ कि यह सिद्धान्त आलाप कौनसा है क्योंकि जो कुछ इन पाँचों गाथाओं में नियम कहे गये हैं उन सबमें न तो कोई असाधारणता है और न वे सब ऐसे ही हैं कि जो कर्मकाण्ड के अधिकारों में न आये हों। अतएव यह अधिकार पुनरावर्तनरूप है। परन्तु गाथा संख्या ७१४ में एक

विशेष मत मिलाया गया है जो प्ररूपणाओं और बन्धोदय के कथन से कतई नहीं मिलता वह गाथा यह है:—

माणुसिणि पमत्त विरदे आहार दुगं तु णत्थि णियमेण।
अवगद वेदे मणुसिणि सण्णा भूदगदिमा सेज्ज ॥
मानुष्यां प्रमत्त विरते आहारद्विकं तु नास्ति नियमेन।
अपगत वेदायां मानुष्यां संज्ञा भूत गतिमा साद्य ॥

मानुषी के प्रमत्त विरत गुणस्थान में आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नाम कर्म का उदय नियम से नहीं होता। वेदरहित मानुषी में मैथुन संज्ञा भूतगति न्याय की अपेक्षा से है।

इन दो नियमों में आहारक युगल का नियम कर्मकाण्ड, उदयत्रिभङ्गी गाथा संख्या ३०१ में क्रम-बद्ध कथन पूर्वक वर्णित है, एवं ३२१वीं गाथा से भी स्पष्ट है यहां पर इस के वर्णन की क्या जरूरत थी सो मालूम नहीं होती।

अब रहा दूसरा नियम; वह सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं रखता। चाहे मनुष्य हो अथवा मानुषी किसी के भी ६वें गुणस्थान के ऊपर वेद प्रकृति का उदय नहीं होता और तदनुसार मैथुन संज्ञा का भी अभाव है जीव काण्ड, अन्तर्भावाधिकार गाथा संख्या ७०१ में इसका स्पष्टतया वर्णन है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मैथुन संज्ञा का विच्छेद होजाता है और उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में कोई भी संज्ञा नहीं होती यदि मानुषी के अनिवृत्तिकरण गुणस्थानों के पश्चात् मैथुन संज्ञा का होना तात्विक बात होती तो अन्तर्भावाधिकार में यह अपवादसूत्र ज़रूर वहां लिखा जाता परन्तु वस्तुतः जिसका सत्व ही नहीं उसको वहां कैसे जगह मिलती

पाठक ! इस असम्बद्ध नियम को विशद करेंगे तो कुछ और ही भेद प्रकट होगा इसका अभिप्राय यह है कि वेदरहित अवस्था के कारण यद्यपि ६वें गुणस्थान से ऊपर मानुषी के मैथुन संज्ञा वास्तव

में नहीं होती परन्तु सवेद अवस्था में यह संज्ञा उसके विद्यमान थी इस लिए भूति—गति न्याय की अपेक्षा से केवल शब्दों में ऐसा कह लेना चाहिए कि अवेद गुणस्थानों में भी मानुषी के मैथुन संज्ञा होती है टीकाकारों ने इसकी पुष्टि में यह लौकिक उदाहरण दिया है कि जिस तरह पहिले कोई सेठ था परन्तु वर्त्तमान में वह सेठ नहीं है तो भी पहिले की अपेक्षा से उसको सेठ कहते हैं यहाँ यह उचित तर्क होता है कि भूत-गति न्याय की अपेक्षा से मानुषी के ही संज्ञा क्यों कही जाती, मनुष्य के भी कहना चाहिये क्योंकि ९वें गुणस्थान के सवेद —भाग तक मनुष्य और मानुषी दोनों ही के मैथुन संज्ञा का सद्भाव है इस तर्क के सामाधान में कुछ भी तात्विक उत्तर नहीं बन सकेगा।

दूसरी तर्कणा यह उत्पन्न होती है कि जब मैथुन की इच्छा यानी मैथुन संज्ञा का मूल से अभाव होगया फिर भी हम १०वें, ११वें, १२वें १३वें १४वें गुणस्थानों के जीवों को मैथुन संज्ञा वाले कहें ही क्यों भूतिगति न्याय की ज़रूरत ही यहां पर क्या है, यह तो एक लोकाचार और व्यावहारिक बोलचाल की बात है, इस न्याय से क्या तत्व सिद्धि हुई?

भूत गति न्याय से तो हम इन गुणस्थानों में आहार भय और परिग्रह संज्ञा भी कह सकते हैं। केवल मैथुन संज्ञा ही, और वह भी मानुषी ही के लिये, अपगतवेद गुणस्थानों में इस न्याय के आधार पर क्यों कही जाय! उल्लिखित व्यावहारिक नियम के मुताल्लिक़ इन तर्कणाओं का तात्विक सिद्धान्त-नियम में तो कहीं उत्तर मिल ही नहीं सकता क्योंकि इस नियम में वास्तविक प्रतीत का किञ्चित् आभास नहीं है। यह व्यावहारिक नियम है और समाज की व्यावहारिक गति से इसका ताल्लुक़ है। अतएव इसकी उत्पत्ति का कारण सामाजिक स्थिति में मिलेगा और इस के सम्बन्ध में जो भी तर्कणायें होंगी उनका उत्तर भी उसीसे उपलब्ध होगा।

ऐसा मालूम होता है कि देशकाल के परिवर्त्तन से व्यावहारिक चारित्र के किसी ख़ास नियम के प्रचारार्थ अथवा अजैनों के भय से जब महा व्रतधारिणी स्त्रियों को महाव्रती पुरुषों के समान पद देना उचित न समझा गया तब चतुर्विध धर्म सङ्घ में आर्य्यका का दर्जा मुनि से कम कर दिया गया। परन्तु ऐसी व्यावहारिक व्यव-स्था का सिद्धान्त से मेल मिलाने के लिये पुरुष में ही स्त्री का निष्ठापन किया गया और यह माना गया कि ऐसे भी हीन पुरुष होते हैं जो पुरुषों से स्त्री की तरह मैथुनेच्छु हों, अतएव उनको भी स्त्री ही कहना चाहिये। एवं ऐसे जीवों के भूतगत न्याय से यानी लोकाचार के मुआफ़िक मैथुन संज्ञा अर्थात् मानुषीवेद अपगत वेदावस्था में भी कह दिया जाय जिससे नाम मात्र को तो १४ गुणस्थानों में मानुषी का सद्भाव सिद्धान्त से मिल जाय।

यह मनोमत किसी विशेष सङ्घ की व्यावहारिक पद्धति के स-मर्थनार्थ चला ज़रूर परन्तु तात्विक सिद्धान्त भवन की भित्त के बाहर ही खड़ा रहा क्योंकि उदयत्रिभङ्गी वा प्ररूपणाओं की कथनी में इसको कहीं भी स्थान नहीं। यह केवल शाब्दिक-व्यवहारमय है। इसी कारण से ग्रन्थ के मुख्योद्दिष्ट विषयों के वर्णन हो चुकने पर इस परिशिष्टरूप अधिकार में और वह भी वे मौक़ा इस का निर्देश हुआ वे मौका इसलिये कि अधिकार के प्रारम्भ से लेकर ७२६ वीं गाथा तक पर्याप्त और अ- पर्याप्त अवस्था की अपेक्षा से कथनी है, परन्तु इस ७१४ संख्या में जो कुछ कहा गया है वह पर्याप्त वा अपर्याप्त दशा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता इसके पूर्व गाथा संख्या ७१३ और उत्तर गाथा ७१५ में अधिकार के प्रकरणानुसार कथन है, पाठकखुद मीलान करें इस अधिकार में यह गाथा वहाँ होनी चाहिये थी जहाँ द्वितीयवार मङ्गलाचरण करके कुछ विशेष नियम वर्णित हैं; सम्भव है कि लेखकों की ग़लती से यहाँ लिखी गई हो और मक्षिका स्थाने मक्षिका की उक्तिके अनुसार किसीने संशोधन न किया हो।

जैनधर्म में व्यावहारिक अथवा लौकिक धर्म के नियमानुसार अखिल जैनसमाज को चार प्रकार के सङ्घों में विभक्त किया है; श्रावक, श्राविका तथा मुनि, आर्य्यका । यह चतुर्विध सङ्घ श्रीऋषभदेव तीर्थंकर ने स्थापित किया और इनके दैनिक आवश्यक कर्म भी उन्होंने नियत किये, ऐसा कथन दोनों आम्नायों को स्वीकृत है। पाठक खयाल करें कि इस चतुर्विध में स्त्री पुरुषों की अपेक्षा से दो युगल हैं, एक में श्रावक श्राविका, दूसरे में मुनि आर्य्यका । श्रावक और श्राविका के पांच गुणस्थान हो सकते हैं और दोनों ही १६ वें स्वर्ग तक जाते हैं ग़ौर करने की बात है कि जब श्रावक और श्राविका में पुरुष और स्त्री की अपेक्षा से गुणस्थानों में कोई भेद नहीं तो फिर मुनि आर्य्यका में न्यूनाधिक्य क्यों होने लगा था जैसा जोड़ श्राविका का श्रावक के साथ है, ठीक वैसा ही जोड़ आर्य्यका का मुनि के साथ है। यदि आर्य्यका के पांच ही गुणस्थान होते तो वह श्राविका के सङ्घ में सम्मिलित होना चाहिये और इस तरह से दिगम्बर मतानुयायी सङ्घ त्रिविधि ही होगा, चतुर्विध नहीं। ऐसी दशा में आर्य्यका नामक चौथे सङ्घ की आवश्यकता ही क्या थी यदि यह कहा जाय कि श्रावका द्वादश प्रतिमाधारिणी हो और गणिनी के सङ्घ में दीक्षिता हुए पश्चात् प्रवेश करे उसको आर्य्यका संज्ञा दी गई है तो भी उसके छठा गुणस्थान कहे बिना काम नहीं चलेगा। जब तक आर्य्यका के पांच ही गुणस्थान मानेंगे तब तक वह श्रावका की कोटि में ही रहेगी, मुनि के जोड़में पृथक् समान पदस्था नहीं कही जा सकती। छुल्लक ऐलक त्यागी दिग्वराम्नाय में मुनि नहीं कहे जाते और न उनके छठा गुणस्थान ही माना जाता, वे सब प्रतिमाधारी त्यागी श्रावक समझे जाते हैं इसी प्रकार जो स्त्री गृहवास त्याग कर एक साड़ी वस्त्राच्छादन रक्खे वह त्यागनी श्राविका है और जब तक उसके छठा गुणस्थान होना न स्वीकार करें तब तक उसके लिए श्राविका से भिन्न किसी दूसरे नाम स्थापन की ज़रूरत नहीं। अब अतएव यदि जैन धर्म में चतु-

विंध संघ माना जायगा तो स्त्रीको पुरुष के समान जिनदीक्षित और षष्ठ गुणस्थानस्थ होने से कभी इनकार नहीं करसकते। दीक्षित होने की पुष्टि में तो प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में सैकड़ों प्रमाण मौजूद हैं। चतुर्विध संघ भी मानना और स्त्री के छठा गुणस्थान असम्भव कहना ये परस्पर में विरोधी वचन हैं। चतुर्विध संघ व्यवस्था साफ़ तौर से इस का प्रमाण है मुनि और आर्य्यका दोनों का गुणस्थान एक ही होता है कि और वे श्राविक श्रावका की गुणस्थान सीमा से उच्च चढ़े होते हैं देश काल के परिवर्त्तन से किसी आचार्य्य सङ्घ को वाह्यव्यवस्था में फेरफार करना पड़ा तब शनैः२ विषम वेदादि के मत भी चल पड़े और आखिर में वढ़ते २ इस हद तक आ पहुंचे कि स्त्री को मुक्ति का निषेध ही नहीं किया किन्तु गुणस्थान भी ५ ही कहने लगे।

जैन सङ्घकी किसी सामयिक आवश्यकता के अनुसार व्यावहारिक व्यवस्था के परिवर्तन और उसके रक्षण के समर्थनार्थ ही स्त्री को षष्ठ गुणस्थान के अयोग्य कहा गया तथा समवेद और विषमवेद के मत चले, इन मतों का चतुर्गति के जीवों से तत्वतः कुछ सम्बन्ध नहीं किन्तु मनुष्य समाज तक ही इनका व्यवहार है; ऐसा हमको कई तरह से प्रतीत होता है। दिगम्बर मतानुसार जब पुरुष को १४ गुणस्थान के योग्य कहा जाता है और स्त्री में सिर्फ पांच ही की योग्यता बताई जाती है, तब यह नियम अपने आप निकल आता है कि गुणस्थानारोहण में स्त्री पर्याय की शक्ति पुरुष पर्याय के समान नहीं हो सकती किन्तु स्त्री में पुरुष को अपेक्षा चारित्र मोहनीय के क्षय करने योग्य वीर्यांश की उतनी ही कमी है जितनी १२वें गुणस्थानी जीवकी अपेक्षा पञ्चम गुणस्थानी में होती है। इसमें इतनी विशेषता और रहती है कि पञ्चम गुणस्थानी पुरुष तो आगे के गुणस्थानों में चढ़ने योग्य वीर्यांश अपने करण से प्रादुर्भूत कर सकता है परन्तु स्त्री के वीर्यांश ज्यों

के त्यों बने रहेंगे; चाहे वह कितना ही तप करे, संयम; पाले, शीतो-ष्णादि की परीषह सहे परन्तु स्त्री को भाव चारित्र योग्य वीर्य्य लब्ध असम्भव है। अतएव स्त्री पर्य्याय के चारित्रोत्पादक शक्त्यंश स्थिर है, उनकी एक सीमा है और पुरुष पर्यायके शक्त्यंश से वे कितने न्यून होते हैं इसका अन्दाज़ा हम १२वें और पञ्चम गुणस्थान के अन्तर से कर सकते हैं। चारित्रोत्पादक शक्त्यंश के इसी परिणाम के अनुसार तिर्यंचनी के कितने गुणस्थान होने चाहिये इस का अनुमान पाठक लगावें। पुरुष तिर्यंच के पांच गुणस्थान होते हैं तब दिगम्बर मतानुसार द्रव्य तिर्यंचनी के —चाहे हम सिद्धान्त से मेल मिलाने के लिये कितने भी उदार होजायँ—चतुर्थ गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं कह सकेंगे पाठकों को स्मरण रहे कि चतुर्थ गुणस्थान में भी चारित्र होता है जिसको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। भाव तिर्यञ्चनी के ५ गुणस्थान वैसे ही कहे जायँगे जैसे भाव मानुषी के १४ कहे जाते हैं।

परन्तु पाठक! गोम्मटसारजी में अथवा टीकाओं में कहीं भी द्रव्य तिर्यंचनी वा भाव तिर्यंचनी के गुणस्थानों की कथनी नहीं मिलती और न दिगम्बर मतानुयायी तिर्यञ्च तिर्यंचनी के विषय में कोई मतभेद ही प्रगट करते; किन्तु, चाहे द्रव्य तिर्यंचनी हो वा भावतिर्यंचनी, दोनों के समान तिर्यंच ही के ५ गुणस्थानों की सम्भावना अभेद स्वीकार करते हैं। इसीसे यह दृढ़ प्रतीत होती है कि द्रव्यस्त्री और भावस्त्री का भेद तथा इनके गुणस्थानों में अन्तर करने का मत सर्व जीवाश्रित नहीं बल्कि मनुष्यों ही की अपेक्षा प्रचलित हुआ था, इसका सम्बन्ध व्यावहारिक व्यस्था से है तात्विक सिद्धान्त से नहीं। तात्विक सिद्धान्त वही होगा जो सर्व जीवाश्रित होगा, ऐसा नहीं कि मनुष्यों में तो द्रव्यस्त्री को पुरुषों से इतना चारित्रहीन ठहरादें कि ७ गुणस्थानों का अन्तर होजाय और तिर्यंचों

में सब के ५ गुणस्थान समान ही कह दें, वहां द्रव्यस्त्री पुरुष के बराबर होजाय। ऐसे नियम मनोमत होते हैं सर्वज्ञोदित नहीं। इस मत से तिर्यंचनी और मानुष्यणी में कुछ फर्क ही नहीं रहता दोनों ही में समानता से पांच गुणस्थानों की योग्यता रह जाती है; मानों स्त्री के जीव के लिये मनुष्यगति कुछ भी विशेष आत्म-लाभदायक नहीं। पाठक ग़ौर करें कि जो मत मानुषी में तिर्यंचनी की अपेक्षा एक दो गुणस्थानों की उन्नति योग्य भी परिणाम विशुद्धि नहीं मानता उसने दुष्प्राप्य मनुष्य-भव की प्रशस्तता का सर्वथा अभाव न किया तो क्या किया क्या सर्वज्ञ की दृष्टि में तिर्यञ्चनी और मानुषी एक ही थीं? क्या गति भेद से परिणामों की शुद्धि में कुछ भी विशेषता उत्पन्न नहीं हो सकती?

हमने ग्रन्थ-प्रमाण की साक्षी में पहिले लिख दिया है कि गोम्मटसार में कहीं भी यह कथन नहीं किया गया है कि द्रव्यस्त्री के पांच गुणस्थान ही होते हैं अथवा भावस्त्री के चौदह होते हैं। किसी भी मूल गाथा को ले लीजिये उसमें द्रव्य और भाव का भेद ही नहीं मिलेगा; जो नियम कहे गये हैं स्त्री पर्याय के लिये हैं। टीकाकारों ने अपनी इच्छानुसार द्रव्य और भाव के शब्द स्वेष्ट मत के पोषणार्थ यत्र तत्र जोड़ दिये हैं, जिस गाथा के अर्थ में द्रव्य शब्द से अपने मत की पुष्टि होती देखी तो मानुषी वा स्त्री का अर्थ द्रव्यस्त्री लेलिया, जहां भाव से निजाभिप्राय की सिद्धि समझी वहां भाव मानुषी व भावस्त्री कह दिया। पाठकगण संस्कृत और भाषा दोनों ही प्रकार की टीकाओं को खुद पढ़ेंगे तो मालूम होगा कि टीकाकार परस्पर में सहमत नहीं और वे कोई भी नियामक सूत्र नहीं बना सके जिसके आधार पर निस्सन्देह यह समझ लिया जाय कि इस स्थान पर आचार्य्य ने द्रव्यस्त्री का कथन किया है और स्थल पर भावस्त्री का। प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखने वाली गाथाओं पर हम विवेचन कर चुके हैं और दिखला चुके हैं कि

उनसे विषमवेद का अर्थ किसी भी तरह नहीं युक्त होता। यहां पर टीकाकार के स्वमत पक्षपात का दिग्दर्शनमात्र और कर देते हैं।

१ अयदा पुण्णे ण हि थी (कर्म्मकाण्ड २८७)
२ मणुसिणि अयदम्हि पज्जत्तो (जीवकाण्ड ७१३)
३ मणुसिणि एत्थी सहिदा (कर्म्मकाण्ड ३०१)

इन तीनों जगह 'थी' और 'मणुसिणि' से द्रव्यस्त्री का अर्थ लिया है और, " मणुसिणि पमत्त विरदे आहार दुगं तु णत्थि णियमेण " (जीवकाण्ड ७१४) इस स्थल पर स्वमत पोषणार्थ मणुसिणि से भावस्त्री का अर्थ लेते हैं। विज्ञ पाठक इन गाथाओं को खुद पढ़ेंगे तो मालूम होगा कि इनमें द्रव्य और भाव भेद का सङ्केत तक नहीं है।

पाठकों को यह भी ध्यान में रख लेना चाहिये कि ७१४ संख्या जीवकाण्ड के आलापाधिकार की है जिसकी आलोचना हम कर चुके हैं। इस गाथा को कर्मकाण्ड की गाथा संख्या ३०१ से मिलाना चाहिये जिससे ऐसा भी प्रतीत होगा कि गोम्मटसार कई आचार्य्य-मतों का संग्रह ग्रन्थ* है और सम्भव है कि ग्रन्थ निर्माता ने किसी आचार्य्य विशेष की रची हुई मूलगाथाओं को

* " गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है" ऐसा हमने स्वर्ग निवासी पण्डित भोलीलालजी के एक शिष्य विशेष से सुना था और हमको भी यही जंचता था, क्योंकि स्वयं श्रीनेमिचन्द्राचार्य्य ने अपनी प्रशस्ति में "गोम्मट संग्रह सुत्तं" ऐसा पद दिया है। परन्तु टीकाकारों ने जो संग्रहसूत्र का अर्थ किया है उससे हम असमञ्जस में थे और निर्णय न कर सके कि वास्तव में यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रचना है वा स्वतन्त्र तथा परकीय दोनों हैं। जैन हितैषी, सन् १९१७ के नवम्बर के अंक में पण्डित जुगलकिशोर मुख्तारने जो प्रमाण दिये हैं उनसे हमको दृढ़ निश्चय होगया कि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रचना तो नहीं है। पाठक भी उस लेख को पढ़ें।

इस आलापाधिकार में स्थान दिया हो, अन्यथा जो कथन क्रमबद्ध उदयत्रिभङ्गी में मौजूद है और जिसमें कुछ विशेषता नहीं है उसके लिये यह असम्बद्ध गाथा ख़ास तौर से क्यों बनाई जाती और जीवकाण्ड में क्यों रक्खी जाती। सिद्धान्त के अनुसार नपुंसक के भी आहारक द्विक का उदय नहीं होता और दिगम्बर मतानुसार भाव नपुंसक के षष्ठ गुणस्थान होता ही है, तदनुसार मनुष्यणी के ही आहारक युगल का निषेध नहीं कहना चाहिये किन्तु मनुष्यिणी और नपुंसक मनुष्य दोनों के लिये निषेध वक्तव्य है। इसी से यह भासता है कि आलापाधिकार की गाथायें विशेष मती आचार्यों की रची हुई हैं जिनको संग्रहकर्त्ता ने स्वेच्छानुसार जीवकाण्ड के अन्त में और कर्मकाण्ड के प्रारम्भ के पूर्व स्थान देना उचित समझा।

अब हम इस विषय में कुछ ऊहापोह की बातें उन महात्माओं के लिये उपस्थित करते हैं जो केवल शाब्दिक पण्डित नहीं हैं किन्तु क्षण प्रतिक्षण अपने उदय और बन्ध का विचार रखते हैं और जिनको कर्मोदय जनित परिणति के चिर विचाराभ्यास से गुणस्थान के भावों का अनुभव होगया है। ऐसे भेद—विज्ञानी पाठकों से हमारी यह प्रार्थना है कि निम्नोक्त तर्करूप प्रश्नों का उत्तर पहिले वे खुद विचारें तत्पश्चात् हमारे उत्तर को पढ़ें और अपने उत्तर से मीलान करें।

१, षष्ठ गुणस्थान उतार का क्यों है चढ़ाव का क्यों नहीं ? जो मुनि षष्ठसे उतरकर चतुर्थ में आगया और जो गृहस्थ चतुर्थ गुण-स्थानी हैं, इन दोनों में गुणस्थान की अपेक्षा समानता है वा और कुछ; एवं चतुर्थ गुणस्थानी दीक्षित मुनि से पञ्चम गुणस्थानी श्रावक का दर्जा उच्च है वा और तरह से है ? तीर्थकर जिस समय वस्त्राभूषण का त्याग और केश लुञ्चन करते हैं तब कौनसा गुणस्थान होता है; उसके पूर्व में जब द्वादश भावना का चिन्तवन करते हैं

और लौकान्तिक देवों का आगमन होता है तथा इन्द्र शिविका में विठाकर वन को लेजाता है तव कौनसी गुणस्थान स्थिति है?

२. प्रमत्त विरत षष्ठ गुणस्थान में चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, एक निद्रा और एक प्रणय, ये पन्द्रह प्रमाद व्यक्त वा अव्यक्तरूप से होते हैं; एवं आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चारों ही संज्ञायें कार्य्यरूप होतीं हैं। ऐसा सिद्धान्त में कहा गया है। कल्पना कीजिये कि एक स्त्री ने दिगम्बर मत के अनुसार गुरु के पास दीक्षा ली और आर्य्यका के व्रत धारण किये। ज्ञानी जन, बताओ, कि उपरोक्त प्रमाद तथा संज्ञाओं से अधिक और कौनसा दोष उस द्रव्य स्त्री के उदय आता है जो पुरुष महाव्रती के नहीं होता और जिस के अनिवार्य सद्भाव में वह स्त्री षष्ठगुणस्थान के अयोग्य समझी जाय, एवं ज्ञानी जन इसका भी विचार करें कि ब्रह्मचर्य्य की प्रतिज्ञा ग्रहण किये वाद मैथुन संज्ञा के उदय की अपेक्षा भाव स्त्री वा नपुंसक (पुरुष) समवेद पुरुष और समवेदी स्त्री (द्रव्यस्त्री) इन तीनों में क्या असमानता रहती है?

३. जब भावस्त्री के १४ गुणस्थान माने जाते हैं अर्थात् उसको मोक्ष प्राप्ति सम्भव है, तो फिर आहारक द्विक और मनः पर्य्याय ज्ञान का निषेध क्यों किया गया; जो भाववेद अर्हन्त पद की प्राप्ति में बाधक न हुआ वह आहारक द्विक और मनः पर्य्याय ज्ञान का वाधक कैसे होगया; क्या आहारक शरीर और मनः पर्य्याय ज्ञान का महत्व केवलज्ञान से भी अधिक है जो भावस्त्री को केवलज्ञान तो साध्य और प्राप्य कहा गया परन्तु इन दोनों की प्राप्तिअसम्भव बताई गई।

(उत्तर)

१. जीव के दो प्रकार के गुण होते हैं, एक अनुजीवी, दूसरे प्रतिजीवी। अनन्त चतुष्टयादि भाव स्वरूप गुण अनुजीवी हैं और अमूर्त्तत्व, अक्रोध अलोभत्व आदि अभाव स्वरूप गुण प्रतिजीवी हैं

मोह और अन्तराय एवं असाता के तीव्रोदय में प्रतिजीवी गुणोंही का ध्यान तथा चिन्तवन प्रधानता से होता है जिस से त्याग में राग और हेय में द्वेष-बुद्धि उत्पन्न होती है। इस के विपरीत उक्त कर्मों के मन्दोदय में अनुजीवी गुणों का ध्यान एवं चिन्तवन होता है, जिस से जीवात्मा ज्ञाता द्रष्टामय भावना में तल्लीन होकर कर्मोदय जनित वाह्य परिस्थिति का खयाल छोड़ देता है, यहां तक कि देह का भान भी जाता रहता है। इस स्वस्थावस्थां में त्याग और व्रतका भाव विल्कुल नहीं रहता, न पुण्य पाप का विचार होता और न कर्म वन्धका भय, अर्थात् पर्याय वुद्धिमें जव आत्मा का राग और द्वेष मन्द और शान्त होता है तभी वास्तविक वीतरागता होती है। अन्यथा, जव तक हेय और उपादेय पर लक्ष्य तथा कर्म—वन्ध का भय वना रहता है, एवं त्याग और व्रत में ही कल्याण होने की मति स्थिर रहती है तव तक राग और द्वेप दोनों ही का सद्भाव है जो मोक्ष में वाधक है। संसार दुख का घर है, महाव्रत धारण करने से जन्म मरण के दुःखों से छूट जाता है, हिंसादि पापों का त्याग करना चाहिये अन्यथा कर्म-वन्ध से कुगति के दुःख सहने पड़ेंगे, क्रोध करना मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं इसलिये क्रोध का त्याग ही श्रेय है, इत्यादि भावनाओं में द्वेषरूप परिणति ही प्रधान है जिसका मूल कारण दुःख का भय है। इसी तरह से क्या गृहस्थ और क्या मुनि दोनों जवतक ऐसे हेयोपदेय के विचारों में मुग्ध वा तृप्तरहते हैं अथवा स्वपर भेद लक्ष्य में उपयोग लगाते रहते हैं तव तक राग और द्वेषभाव भी चलते ही रहते हैं। एवं परिणामों की ऐसी स्थिति में प्रतिजीवी गुणों ही का ध्यान होता है और आत्मा का करण इन्द्रियविपय, कपाय तथा संज्ञाओं के निरोध में ही संलग्न रहता है। परन्तु, यह सच्चिदानन्दावस्था नहीं होती; सच्चिदानन्दा-वस्था अनुजीवी गुणों के ध्यान में है। उस का न पुण्यकरणी से

राग है, न पापकरणी से द्वेष, वह हेयोपादेय के विचार से परे है। यही सप्तम गुणस्थान है जो दृढ़ होते २ केवलज्ञान रूप में प्रकटीभूत होता है।

अस्तु, प्रतिजीव गुणानन्द स्वरूप विग्रहावस्था से निकलकर यह जीव अनुजीवी गुण तल्लीनतारूप सच्चिदानन्दावस्था में जब चढ़ता है तो वहां प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त कालमात्र स्थित रहता है, परन्तु पूर्व संस्कारावश कषायादि दोषों के तीव्रोदय से च्युत होकर पुनः विग्रहावस्था में आजाता है। च्युत होने के बाद यदि प्रमादादि दोषों की करणभूत कर्म्म प्रकृतियों के उदय का वेग इतना प्रबल हो कि अन्तर्मुहूर्त के भीतर २ जीवात्मा न सँभल सके और कर्मों से अभिभूत हो तब से तो विग्रह बढ़ जाता है वरना अन्तर्मुहुर्त के पश्चात् फिर स्वस्थावस्था को प्राप्त कर लेता है। स्वस्थावस्था के प्राप्त कर लेने से जीव की इतनी शक्ति खुल जाती है कि वह च्युत होजाय तो भी कुछ काल तक रौद्रध्यानी और निदान आर्तध्यानी नहीं होता यह काल उत्कृष्ट से उत्कृष्ट अन्तर्मुहुर्त हो सकता है। स्वस्थावस्था के पश्चात् इस अन्तर्मूहुर्त में च्युत जीव की जो विग्रह दशा है वही षष्ठ गुणस्थान है। चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थान की अपेक्षा षष्ठ में विग्रह हलका होता है परन्तु स्वस्थानन्द प्राप्त हुए बिना विग्रह की मन्दावस्था प्रकट नहीं इस कारण षष्ठ गुणस्थान चढ़ाव का नहीं किन्तु उतार का है।

अभ्यासी पाठकों को इसका अनुभव होगा कि जो व्रत उपवास यम नियम, त्याग,पञ्चक्खाण,जप, तप, चतुर्गति के दुःखों से छुटकारे के हेतु से किये जाते हैं वे मोक्ष प्राप्ति गुणस्थान श्रेणी में कुछ भी मतलब के नहीं किन्तु उलटे संसारभ्रमण के कारण होते हैं। जब तक दुःख का भय विद्यमान है तब तक दुःख से छुटकारा हो ही नहीं सकता। सच्चिदानन्दावस्था और मुक्ति एक ही बात है। हम यहां

प्रकरणवश उसके प्रतिपाती भाग की चर्चा कर रहे हैं, जिसके पूर्व साम्यभाव की चर्याशक्ति अनिवार्य्य है। यह साम्यभाव चर्य्याशक्ति ऐसे निष्काम विग्रह से उत्पन्न होती है जो भेद विज्ञानियों को कर्मजनित दुःख के कारणों को सुखमय और सुख के कारणों को दुःखमय बनाने में करना पड़ता है। विग्रह खड़ा किये बिना साम्य-भाव चर्या और सच्चिदानन्दमय अवस्था दोनों ही अप्राप्य हैं। हम इसको एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। कल्पना कीजिये कि तीन अविवाहित पुरुष हैं, उनमें दो के पास विवाह के योग्य धन। और साधन नहीं है, परन्तु तीसरे के पास धन भी है तथा कन्या भी मिलती है प्राकृतिक रूप से पहिले के दो धनहीनों को अन्तराय जनित दुःख है, तीसरे धनिकको अन्तराय के क्षयोपशम से सुख है दुःखित धनहीनों में से एक ने यह विचारा कि संसार दुःख का घर है, इस में सुख कहां, अतः इसका त्याग ही अच्छा; ऐसा विचारकर उस ने दीक्षा ले ली और मुनि होगया। दूसरा धनहीन नीतिपूर्वक निष्काम बुद्धि से धनोपार्जन और विवाह के साधनों की प्राप्ति के लिये कठिन परिश्रमयुक्ति रात दिन उद्योग करने लगा। तीसरे सुखी धनिक ने यह विचार किया कि विवाह के सुख और विषय भोगों में लिप्त होना मेरा कर्त्तव्य नहीं प्रत्युत इस नर तन को पाकर महातप करना ही सार है; इस भावना से उसने सर्व परिग्रह त्याग कर मुनि व्रत अङ्गीकार कर लिये। इन तीनों के भावों में पाठक खोज करें कि विग्रह की उत्पत्ति और साम्य-भाव चर्या की शक्ति कहां है जिस धन हीन ने उद्यम हीन होकर संसार को दुख का घर समझा और मुनि होगया उसने न कुछ त्याग किया, न उसको कोई विग्रह जान पड़ा; पूर्व दुःखावस्था के छोड़ने में उसको किञ्चित् उत्सर्गज दुख नहीं हुआ और अपनी परिस्थिति को उसने सुख में बदल लिया दूसरे कर्मवीर ने उद्योग का विग्रह खड़ा किया और फलासक्ति त्याग का तप करता है, उसको साम्यभाव चर्या की

शक्ति प्राप्त होती है । तीसरे महात्मा ने सुखस्थिति त्याग का निःष्काम विग्रह खड़ा किया इसने सुखस्थिति को दुख में परिवर्त्तक किया है जिसको वह क्षण २ पर जीतेगा ; इस शूर की साम्यभाव चर्या की शक्ति अपनी सुखस्थिति को दुःखमय बनाने में खुलेगी ।

इससे पाठक समझ गये होंगे कि मुनि दीक्षा, काय क्लेश के तपाचरण, गृह त्याग आदि में गुणस्थान नहीं है, न गुणस्थान किसी बाह्य वेष में है नग्न होकर कमण्डलु पिच्छी लेने ही से कोई षष्ठ गुणस्थानी नहीं हो जाता । सुख और दुख के कारणों को परिवर्त्तन करने में निष्काम विग्रह से जो साम्यभावचर्या उत्पन्न होती है, उसी कारण के कार्य्य स्वरूप षष्ठ और सप्तम गुणस्थान हैं जो मज़बूत होते २ केवल ज्ञानावस्था में जीवात्मा पूर्ण विकास प्रकट करते हैं उपरोक्त दीक्षा आदिक क्रियायें भी निस्काम विग्रह और साम्यभावचर्या के एक प्रकार के साधन हैं, परन्तु साधनों की इतिश्री इन्हीं पर नहीं होती और न ये साधनों के के श्रीगणेश ही हैं, जीवों की सुख दुख की परिस्थितियां अनेक और असमान हैं, वैसे ही निष्काम विग्रह, साम्यभावचर्या के साधन भी अनेक और असमान हैं । अतएव किसी ख़ास वेष, व्रत पच्चक्खाण वा रहन सहन की क्रिया से यह निश्चय कर लेना कि इसी में षष्ठ गुणस्थान है, यह एकान्तवाद है

जोकुछ हम ऊपर कह आये हैं इसीसे पाठक देखलें कि चतुर्थ गुणस्थानी मुनिलिङ्गी और ग्रहस्थ दोनों समान हैं एवं पञ्चम गुणस्थानी श्रावक चतुर्थ गुणस्थानी दीक्षित मुनि की अपेक्षा गुणस्थान दृष्टि से अधिक पूजार्ह है यह बात दूसरी है कि हम मुनिलिङ्गी को षष्ठ और सप्तम गुणस्थानी ही समझें और उसीको पूजा करें क्योंकि मुनियों के मूल गुण वा उत्तरगुण तथा आवश्यक क्रियायें विशेष जनसमाज के पार लौकिक धर्म के व्यवहार मार्ग हैं जो द्रव्यकाल भावानु-

सार परमज्ञानी नेताओं के द्वारा निर्दिष्ट हुये हैं। इनके अनुकरण से कई जीव मोक्ष योग्य गुणस्थानों को प्राप्त कर लेते हैं। कितने ही जीव उनकी प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं और बहुसंख्या इन मार्गों की रूढ़ि की लीकमें फंसकर पुण्यरूप वा पापरूप परिणति में विलग्न रहती है। यह मोक्षार्थियों का लौकिक व्यवहार है जिसका प्रभाव और महत्व जन साधारण में गतानुगतिक परिपाटो से बना रहता है; तत्वदृष्टि से नहीं। कपड़ों को छापते हुये गोम्मटसार की गाथाओं का अनुभव करने वाले दौलतराम छीपा साधारण जनता में ऐसे मुनि वेषधारी के बराबर भी सत्कृत नहीं हुए, जिसका बहिरात्मा पौराणिक कथाओं के रसों में ही लुब्ध हो और जिसको इतना भी अभ्यास न हो कि उन कथाओं के पठन, श्रवण वा मनन के समय अपने आस्रवों का विचार तो कर लें। इस का कारण यही है कि लोक की पूज्यदृष्टि बाने पर होती है गुणस्थान पर नहीं। और ऐसा न हो तो समाज का व्यावहारिक काम चल भी नहीं सकता।

सप्तम गुणस्थान निष्क्रिय है और षष्ठ गुणस्थान सक्रिय। यदि आहार, विहार, निहार अथवा किसी अन्य चर्या के करते हुए षष्ठ से सप्तम में भाव चढ़ गये तो मुनि स्तब्ध हो जायंगे उस समय शरीर जरा भी हलन चलन नहीं करता। आहार करते वक्त ग्रास मुख में ही रह जाता है गले से नीचे नहीं उतरता छठे में उतर आते हैं तब फिर क्रिया होने लगती है। तीर्थंकर को वस्त्राभूषण त्याग करते हुए तथा केश लुञ्चन की क्रिया के समय षष्ठ गुणस्थान होता है और सप्तम उसके पूर्व ही होजाता है। हमारे खयाल में तो यह आता है कि सप्तम और षष्ठ की क्रमबद्धधारा उसी समय से शुरू होजाती है जब कि उनका अन्तरात्मा द्वादश भावनामय होकर गृहसुख त्याग के प्रारम्भिक विग्रह को जीत चुकता है।

२—जो कुछ हमने ऊपर विवेचन किया है उसी से यह बात साफ होजाती है कि १५ प्रमाद और चार संज्ञाओं के दोषों के अतिरिक्त दीक्षिता आर्य्यका के और कोई विशेष दोष नहीं रहता और निष्काम विग्रहक्षेत्र में पुरुष महाव्रती के समान ही वह भी धैर्य्य और साहस से विजय पा सकती है। रही बात मैथुन संज्ञा के उदयोदीरण की, इसकी चर्चा हम पहिले बहुत कुछ कर चुके हैं, यहां इतना ही कहना बस होगा कि मैथुन की इच्छा का महान् प्रबल वेग तो उस जीव के होना चाहिये जो मुनिव्रत लिये बाद भी पुरुष होकर अपने वेद से विपरीत पुरुष से मैथुन की इच्छा करता हो, और जब ऐसे विपिरीत स्वभावी को ही षष्ठ गुणस्थानी दिगम्बर मत में माना जाता है तो अपने वेदानुकूल संज्ञा के उदय में स्त्री तो उससे हजार दर्जे श्रेष्ठ है और वेदोदय उसके षष्ठ गुणस्थान में बाधक ही क्या हो सकता है। विषमवेदी ही जब अपने वेद-विग्रह को जीत सकता है तो सम-वेदी तो बहुत सरलता से जीत लेगा।

३—कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिये अवधिज्ञान, मनःपर्य्यय-ज्ञान तथा आहारकद्धिक की आवश्यकता नहीं, जिस जीव ने वीतराग भावचर्या का अभ्यास कर लिया वही सयोग केवली होकर मुक्त होजाता है। अवधिज्ञान, मनः पर्य्यज्ञान, आहारक और वैक्रियक शरीर एक प्रकार की ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ हैं जो मुनियों को अथवा अन्य उद्योगियों को हठयोग की क्रियाओं के अभ्यास से पैदा होती हैं। ये योग के चमत्कार हैं जिनका मोक्ष से कुछ सम्बन्ध नहीं। जिस तरह आजकल पाश्चात्य लोगों ने विद्युत् वाष्पादि पदार्थों के गुणों का ज्ञान प्राप्त करके नाना प्रकार के आश्चर्य्यजनक भौतिक आविष्कार किये हैं उसी प्रकार इस भारतवर्ष में भी एक समय ऐसा था जब यहाँ के योगी अनेक प्रकार की हठ-योग-सम्बन्धी क्रियाओं का आविष्कार करके सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गलों तथा पञ्चभूतों को अपनी इच्छानुसार कार्य में लेते

थे; वे लोग अपनी आत्म-शक्ति से जड़ प्रकृति को भी चाहे जैसे नृत्य कराते थे। परन्तु इन क्रियाओं और ऋद्धियों के आश्चर्य एवं चमत्कारों से किसी जीव को मोक्ष-प्राप्तिका स्वत्वप्राप्त होजाय ऐसा मानना भ्रम है। यदि वायु-यान, Wireless message टारपीडो आदि के अविष्कर्ता और इनको उपयोग में लानेवाले आधुनिक विज्ञानी तडित् वाष्पादि की वशीकरण शक्ति से मोक्ष प्राप्त कर सकें तो इन ऋद्धि सिद्धियों से भी मोक्ष मिल सकती है; अन्यथा हजारों ऋद्धि सिद्धि वाले ख्याति लाभ पूजा में फँसकर अनन्त संसारी होजाते हैं। जैनधर्म केवल मोक्ष को लक्ष्य में रखता है इसलिये इस धर्म ने हठयोगको महत्व नहीं दिया।

ऋद्धि सिद्धियां कई तरह की होती हैं और उनके हरेक के भिन्न २ आसनादि होते हैं। किस २ ऋद्धि के लिये कौन २ सा संस्थान वा प्रमाण निर्माण उपयुक्त होता है इत्यादि बातों का बोध हठयोग के अभ्यासियों से हो सकता है। सर्व शरीर समान रूप से समस्त ऋद्धि सिद्धियों के प्राप्ति के योग्य नहीं होते क्योंकि प्रत्येक ऋद्धि सिद्धि के साधन-प्रकार एक से नहीं किन्तु जुदा २ होते हैं।

हमारी समझ में ऐसा आता है कि एक समय हिन्दुस्तान में अजैनों के साधुलोग हठयोग की कठिन २ क्रियाओं से भांति २ की जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, रूपगता आदि विद्याओं को सिद्ध करके लोकको मुग्ध करते थे और जिस तरह पाश्चात्य भौतिक विज्ञानी अपने आविष्कारों का उपयोग राष्ट्रीय युद्धों में करते हैं उसी तरह से वे लोग भी अपनी सिद्धियों का उपयोग मत-विजय में करते थे। ऋद्धि सिद्धियों के ऐसे प्रतिद्वन्द्वता के समय में सीधे सादे, ढोंगरहित जैनधर्म को अपना सामाजिक रक्षण कठिन होगया और विवश होकर जैनमुनियों और त्यागियों को भी ऋद्धि, सिद्धि, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रादि के प्रपञ्च में जुटना पड़ा। बौद्धों को भी ऐसा ही करना पड़ा। विषयान्तर होजाने से हम इसके ऐतिहासिक प्रमाण यहां नहीं देते। मनःपर्ययज्ञान और आहारक शरीर की ऋद्धियां जैनों ने अपने किसी खास तपश्चरण और हठक्रिया के प्रयोग से पैदा कीं और इनको जैनों ही के लिये पेटेंट (Patent) रक्खा, एवं मनःपर्य्यय को अवधिज्ञान से तथा आहारक शरीर को वैक्रि-

यिक से भिन्न उच्चपद देकर कर्म प्रकृतियों में भी इनकी संख्या बढ़ा दी।* ऐसा भासता है कि स्त्री शरीर में उस हठ क्रिया और तपश्चरण की योग्यता का अभाव है जो उपरोक्त दोनों ऋद्धियों के लिये आवश्यक हैं एतदर्थ मनुष्यिणी के इनका निषेध बतलाया गया। अङ्गोपांग हीन देही भी ऋद्धि सिद्धि साधन के अयोग्य होते हैं इसी से नपुंसक भी इनसे वञ्चित रहे। अविकल मनुष्य शरीर ही में ऐसी क्रियाओं की योग्यता होती है।

हमारे उपरोक्त कथन से पाठक यह भी सहज ही समझ सकते हैं कि 'मणुसिणि पमत्त विरदे आहार दुगं तु णत्थि णियमेण, इस गाथार्द्ध में मनुष्यिणी से अभिप्राय स्त्री=शरीर का ही है न कि पुरुष का, क्योंकि स्त्री का शरीर ही इनके अयोग्य है, पुरुष का शरीर सर्व प्रकार की हठ क्रियाओं के लिये पर्याप्त है।

पाठकों को इसका भी सन्देह रहित समाधान होगया होगा कि मानुषी को केवलज्ञान तो सुलभ क्यों है और आहारक द्धिकादि क्यों अप्राप्य हैं। मोक्ष के लिये किसी विशेष शरीर रचना की ज़रूरत नहीं और न मोक्ष प्राप्ति के लिये कोई ख़ास 'सर्वाधिकार रक्षित, (Patent) परिस्थिति ही आवश्यक है। निष्काम विग्रह, साम्यभावचर्या अर्थात् वीतरागता ही केवल ज्ञान प्राप्ति का हेतु है। जिसके लिये स्त्री और पुरुष दोनों में समान योग्यता है।

वाचकवृन्द! स्त्री-मुक्ति के विषय में सिद्धान्त और विज्ञान सम्बन्धी जो निर्णीत विचार हमने आपके सामने प्रकट किये हैं, उनके साथ ही समाज--शास्त्र का भी एक तात्विक प्रश्न उठता है, उसका भी समाधान कर लेना चाहिये। समाज शास्त्र का यह नियम है कि कोई भी धर्म्म सिद्धान्त वा मत सहसा एक साथ खड़ा नहीं होता किन्तु शनैः २ वृक्ष को तरह विकास को प्राप्त होता है इस नियम की दृष्टि से हमारे प्रकृति विषय में प्रश्न होता है कि जब स्त्रियों को पूर्व काल में पुरुषों की तरह केवल ज्ञान प्राप्त होता रहा और समाज में यही सिद्धान्त मान्य और प्रचलित था; तब

* पाठक! विचारने से अवधिज्ञान और मनःपर्य्यय में भेद ही नहीं पायेंगे और न आहारक एवं वैक्रियिक शरीर में कोई फर्क मालूम होगा परमावधि वाले का जितना क्षेत्र है उतना मनः पर्य्यय का नहीं कहा गया आहारक शरीर रचना भी एक विक्रिया है।

सहसा एक दूसरा पक्ष कैसे खड़ा होगया और प्रत्यक्ष सत्य के विरुद्ध जनता ने उसको कैसे स्वीकार कर लिया। यहां पाठकों के ध्यान में यह आगया होगा कि उपरोक्त प्रश्न उभय पक्षी है। स्त्री मुक्ति निषेधक मत को पूर्व कालीन मानने पर भी यही प्रश्न उपस्थित होता है। समाज शास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न के उत्तर दायित्व का भार दोनों पक्षों पर समान है।

दिगम्बर आम्नाय में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का जो कारण बताया गया है उससे स्त्री-मुक्ति के नवीन पक्षोत्थान का पता नहीं चलता। और श्वेताम्बर आम्नाय में जो कथा दिगम्बर मत की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित है, वह द्वेषबुद्धि की आधुनिक कल्पना मालूम होती है उसमें कोई ऐतिहासिक वा तात्विकसत्य लेश भी दिखलाई नहीं देती किन्तु ऐसा प्रकट होता है कि किसी तीव्र कषाय परिणामी ने अपने मुग्ध भोले शिष्यों तथा अनुयायियों को सन्तुष्ट करने के लिये ऐसी मन घडन्त गुरु शिष्य के दंगे की बे शिर पैर की कथा बना डाली और दन्त कथा की तरह उसका प्रचार जवानी ही लोगों में होगया।*

* फुटनोट—हमने इस विषय में हमारे पूज्य गुरुवर्य श्वेताम्बर मुनि श्रीशिवजीरामजी महाराज से एकदफा चर्चा की थी, उक्त महाराजका उत्तर दिगम्बर आम्नाय के कथन से बहुत मिलता था। खेद है कि हमने उस उत्तर का नाम निर्देश सहित नोट नहीं किया और न हमको उस ग्रन्थ का नाम याद रहा जिसको पूज्य महाराज ने प्रमाण स्वरूप बताया था। श्वेताम्बर आम्नाय के "परिशिष्ट पर्व उत्तराध्ययन वृत्ति तथा आवश्यक वृत्ति" इन तीन ग्रन्थों में शायद कहीं पर वह प्रमाण मिल जाय, पाठक इसकी खोज करें। महाराज का ऐसा कथन था कि श्रीस्थूलभद्र स्वामीके दो शिष्य थे उनमें से एक दक्षिण को चला गया दूसरा उत्तर में ही रहा। उस समय भारत में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा तब उत्तर निवासी मुनिसंघ ने समय की आवश्यकतानुसार वस्त्र भोजन पात्र, तथा दण्ड लष्टिका रखना शुरू कर दिया जब दक्षिण से दूसरा शिष्य लौटकर आया तब उसने अपने गुरभाई से कहा कि भाई तुमने यह काम भगवान की आज्ञा के विरुद्ध क्यों किया इसके उत्तर में गुरुभाई ने समय की आवश्यकता प्रगट की और यह कहा कि यदि मैं ऐसा न करता तो ये हजारों जीव नष्ट-भ्रष्ट होजाते, भगवान की आज्ञा का पालन यथावत् पालन होना असम्भव था, इसके पश्चात् दोनों गुरुभाइयों में विरोध होगया और मत दल बन गये। पाठकों को श्वेताम्बर पण्डित और साधुओं से पूज्य शिवजी रामजी महाराज के कथन की पूछ ताछ करनी चाहिये। इससे आम्नाय भेदके कारणों पर बड़ा प्रकाश पड़ेगा।

स्त्री-मुक्ति के विषय में हमारे अनुसन्धान में ऐसा आता है कि जब तक केवल ज्ञान के साथ देवागम, नभोयान तथा चामरादि विभूतियों का होना आवश्यक न माना गया और जैन धर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध लौकिक जाहो जलाल एवं नाना प्रकार के ऋद्धि-सिद्ध-मन्त्र-तन्त्रज अतिशयों को स्थित-प्रज्ञ केवल ज्ञानी की अङ्गीभूत विभूत का स्वरूप न दिया गया अर्थात् सातिशय केवल ज्ञान का ढांचा जैनसङ्घ में जब तक खड़ा न हुआ तब तक क्या मुनि और क्या आर्यका दोनों ही की पूज्यता समानरूप से समाज में होती रही। परन्तु जब देशकाल के परिवर्तन से जैन धर्मियों को भी अन्य मतियों के मुकाविले में ऋद्धि-सिद्धि के आचार्यों की प्रतिद्वन्द्ता करनी पड़ी तब केवलज्ञान का सातिशय और साश्चर्य्य स्वरूप बना और मुनिसङ्घ को इन अतिशयों की प्राप्तिमें उद्यत होना लाजिम आया। चूंकि स्त्रियां हठयोग की इन क्रियाओं के योग्य साबित न हुई और इस प्रतिद्वन्दता में पुरुषों का साथ न दे सकीं, अतः शनैः २ आर्य्यका की पूज्यता कम होती गई। एवं निरतिशय केवलज्ञान वा मुक्ति का भाव गौणता में आगया। पहिले पहिल स्त्री को आहारक द्विक तथा मनःपर्य्यय निषिद्ध हुआ तत्पश्चात् शनैः २ केवलज्ञान का निषेध भी कहने लगे। इस सातिशय केवलज्ञान के ढांचे के अनुसार ही मुनियों के आहार बिहार वस्त्राच्छादन के नियमों में भी फेर फार हुआ और इसीके आग्रह और पक्ष पर मत चल पड़े। आश्चर्य्य और अतिशय के गुणानुवादियों ने स्त्री को षष्ठ गुणस्थान के योग्य भी न माना और इस तरह से हज़ारों निरतिशय केवलज्ञानी बिना आदर सत्कार पाये अज्ञात ही मुक्त होते रहे।

——*समाप्त*——

निवेदन।

विचारशील पाठकों से हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे हमारे इस लेख को आद्योपान्त पढ़ें और गोम्मटसारजी की जिन २ गाथाओं का हमने उल्लेख किया है उनकी सब टीकाओं को सामने रखकर हमारे विवेचन का मनन करें। हमने यह लेख किसी आम्नाय पक्ष से नहीं लिखा है और न किसी मत के खण्डन का हमारा अभिप्राय है कई वर्षों के मनन और ऊहापोह से जो कुछ हमको सत्य प्रतीत हुआ, ज्ञानियों के सामने प्रकट कर दिया। जैन धर्म की दोनों आम्नायों के पण्डितों, साधुओं और त्यागियों से सानुनय हम विनती करते हैं कि वे इसको समीक्षा करके समाज को सत्यासत्य निर्णय में उपयुक्त करें। लेखक।